वार्षिक रु. १००, मूल्य रु. २५

विवेक ज्योति

वर्ष ५५ अंक १० अक्तूबर २०१७

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

१८६७ २०१७
१५०
भगिनी निवेदिता
विशेषांक

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अक्तूबर २०१७

प्रबन्ध सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सह-सम्पादक
स्वामी मेधजानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी स्थिरानन्द

वर्ष ५५
अंक १०

वार्षिक १००/- **विशेषांक २५/-**

५ वर्षों के लिये - रु. ४६०/-
१० वर्षों के लिए - रु. ९००/-
(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ
अथवा निम्नलिखित खाते में सीधे जमा कराएँ :
सेन्ट्रल बैंक ऑफ इन्डिया, **अकाउन्ट नम्बर** : 1385116124
IFSC CODE : CBIN0280804
कृपया इसकी सूचना हमें तुरन्त केवल ई-मेल, फोन, एस.एम.एस. अथवा स्कैन द्वारा ही अपना नाम, पूरा पता, **पिन कोड** एवं फोन नम्बर के साथ भेजें।
विदेशों में - वार्षिक ३० यू. एस. डॉलर;
५ वर्षों के लिए १२५ यू. एस. डॉलर (हवाई डाक से)
संस्थाओं के लिये -
वार्षिक १४०/- ; ५ वर्षों के लिये - रु. ६५०/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२००१ (छ.ग.)
विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com
वेबसाइट : www.rkmraipur.org
आश्रम : ०७७१ - २२२५२६९, ४०३६९५९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

अनुक्रमणिका

विवेक ज्योति के अंक ऑनलाइन पढ़ें : www.rkmraipur.org

अक्तूबर माह के जयन्ती और त्योहार

५	मीराबाई जयन्ती	२०	गोवर्धन पूजा
१९	दीवाली, काली पूजा	२१	भैयादूज

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

श्रीमाँ सारदा देवी और भगिनी निवेदिता का यह चित्रांकन रामकृष्ण मठ, पुणे की चित्र-प्रदर्शनी का है ।

विवेक-ज्योति स्थायी कोष

दान दाता	दान-राशि
श्री पी. एल. साहू, लखौली, आरंग (छ.ग.)	१०००/-
श्री एम. पी. लाहिड़ी, मकरपुरा, वड़ोदरा, (गुज.)	१०००/
कु. सावित्री निषाद, ठोंडरा, अभनपुर (छ.ग.)	१०००/-
श्री गिरिजेश कुमार श्रीवास्तव, देवरिया (उ.प्र.)	१०००/-
श्री प्रवीण. आर. दलाल, ताड़देव, मुम्बई (महा.)	१०००/-
श्री गिरधरदास झालानी, अनूपनगर, इन्दौर (म.प्र.)	११८०/
श्री गोपाल शंकर चोपड़ा, इलाहाबाद (उ.प्र.)	११००/-
श्री कृष्ण कुमार जे. अग्निहोत्री, नागपुर (महा.)	९१००/-

क्रमांक विवेक ज्योति पुस्तकालय योजना के सहयोग कर्ता	प्राप्त-कर्ता (पुस्तकालय/संस्थान)
३१५. श्री साधराम साहू, लवनबन्द, बलौदाबाजार (छ.ग.)	शा. महाविद्यालय, मंगचुवा, वाया - अम्बागढ़ चौकी, बालोद
३१६. श्री रघुवीर प्रसाद पाण्डेय, अज्ञेयनगर, बिलासपुर (छ.ग.)	बी. एम. ए. कॉलेज, बहेरी, दरभंगा (बिहार)
३१७. ,, ,,	हाटीधुरा कॉलेज, कोकराझार, पो. श्रीनगर, जिला - असम
३१८. ,, ,,	ओरिएन्टल कॉलेज, टक्येल, इम्फाल, वेस्ट इम्फाल (मणिपुर)
३१९. ,, ,,	शास. कन्या महाविद्यालय, कोठी कैम्पस, रीवा (म.प्र.)
३२०. ,, ,,	शा. महाविद्यालय गुढ़ा गोरजीका, झुन्झुनू (राजस्थान)
३२१. ,, ,,	रानी रश्मिदेवी शासकीय महाविद्यालय खैरागढ़ (छ.ग.)
३२२. ,, ,,	शासकीय महाविद्यालय संजौली, जिला - शिमला (हि.प्र.)
३२३. ,, ,,	रामजी सहाय डिग्री कॉलेज, रुद्रपुर, देवरिया (उ.प्र.)
३२४. ,, ,,	मालती वसंतदादा पाटील कन्या महाविद्यालय, सांगली (महा.)
३२५. ,, ,,	जगदीश नंदन कॉलेज, मधुबनी (बिहार)
३२६. श्री संजय चिंचोलकर, वेयर हाऊस रोड, बिलासपुर	नार्थ महाराष्ट्र यूनिवर्सिटी जलगाँव, (महाराष्ट्र)
३२७. श्री नुनिया राम मास्टर, चंडीगढ़	जगदीश चन्द्र डी.ए.वी. कॉलेज, दासूया, जि. होशियारपुर
३२८. ,, ,,	डी. एम. कॉलेज, स्ट्रीट न. ९, न्यू टाऊन, मोगा (पंजाब)
३२९. श्री भावेश वासम, देवपुरी, रायपुर (छ.ग.)	क्रिएटिव इंग्लिश स्कूल, भोपालपटनम्, जि.-बीजापुर (छ.ग.)
३३०. स्व. श्री सुशील आर. गनि, मुम्बई	मॉर्डन कॉलेज इम्फाल, जिला - इम्फाल (पूर्व) मणिपुर
३३१. श्री आशीष कुमार बॅनर्जी, शंकर नगर, रायपुर	शा. सत्गुरु घासीदास पी.जी.कॉलेज, कुरुद, धमतरी (छ.ग.)
३३२. श्री ताराचन्द जांगिड़, नेहरू कालोनी, रोहतक (हरियाणा)	भगवान महावीर लाइब्रेरी, महावीर पार्क, रोहतक (हरियाणा)

काली वन्दना

विरञ्च्यादिदेवास्त्रयस्ते गुणास्त्रीन्
समाराध्य कालीं प्रधाना बभूवुः ।
अनादिं सुरादिं मखादिं भवादिं
स्वरूपं त्वदीयं न विन्दन्ति देवाः ।।

– हे माँ काली ! ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि देवता तुम्हारे तीनों गुणों का आश्रय लेकर तुम्हारी आराधना करके ही प्रधान हुए हैं । तुम अनादि हो, देवों में अग्रगण्य हो, प्रधान यज्ञस्वरूप हो, संसार-सृष्टि से भी पहले विद्यमान थी । माँ तुम्हारे स्वरूप को देवता भी नहीं जानते हैं ।

महामेघकाली सुरक्तापि शुभ्रा
कदाचिद् विचित्राकृतिर्योगमाया ।
न बाला न वृद्धा न कामातुरापि
स्वरूपं त्वदीयं न विन्दन्ति देवाः ।।

– हे माँ ! तुम महामेघ के समान काली हो । तुम कभी रक्तवर्ण की और कभी श्वेत हो जाती हो । तुम अपनी योगमाया के द्वारा विचित्ररूप धारण कर लेती हो । तुम न तो बालिका हो, न वृद्धा हो, न युवती हो । तुम्हारे इस स्वरूप को देवता भी नहीं जानते हैं ।

पुरखों की थाती

हीनसेवा न कर्तव्या कर्तव्यो महदाश्रयः ।
पयोऽपि शौण्डिकीहस्ते वारुणीत्यभिधीयते ।।५६९।।

– नीच व्यक्ति के साथ नहीं रहना चाहिए । सदा बड़ों का ही आश्रय लेना चाहिए; क्योंकि कलवारिन के हाथ में यदि दूध भी रहे, तो लोग उसे मदिरा ही समझेंगे ।

सज्जनस्य हृदयं नवनीतं
यद्वदन्ति कवयस्तदलीकम् ।
अन्यदेहविलसत्परितापात्
सज्जनो द्रवति नो नवनीतम् ।।५७०।।

– साधु-सज्जन व्यक्ति का हृदय मक्खन के समान कोमल होता है – कवियों ने जो ऐसा कहा है, वह सत्य नहीं है, क्योंकि साधु का हृदय तो दूर से अन्य लोगों के दुःख-ताप देखकर पिघल जाता है, परन्तु मक्खन ताप के निकट हुए बिना नहीं पिघलता।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः ।।५७१।।

– सत्य बोलना चाहिये, मधुर बोलना चाहिये, कटु सत्य नहीं बोलना चाहिये । मधुर किन्तु असत्य नहीं बोलना चाहिये – यही सनातन धर्म है ।

सम्पूर्णकुम्भो न करोति शब्दं
अर्धो घटो घोषमुपैति नूनम् ।
विद्वान् कुलीनो न करोति गर्वं
मूढास्तु जल्पन्ति गुणैर्विहीनाः।।५७२।।

– पूरे भरे हुए घड़े से आवाज नहीं निकलती, परन्तु आधा भरा हुआ घड़ा काफी आवाज करता है; वैसे ही कुलीन विद्वान् लोग गर्व नहीं करते, परन्तु गुणों से रहित मूढ़ लोग बड़ी-बड़ी बातें बनाया करते हैं ।

विविध भजन

माँ काली के नव घन काय

कमलाकान्त

माँ काली के नव घन काय ।
काली रूप देखि के हृदय जुड़ाय ।।
उन्नत भाल में शोभे सिन्दूर,
सुन्दर कटि में सौहे घुंघुर ।
नुपूर शोभे माँ के पाय ।।
हँसते-हँसते दानव मारी,
अगणित रक्तबीज संहारी ।
शोणितमय माँ के काय ।।
तव दोऊ पद माँ अति शीतल,
अति मनोहर अतीव कोमल ।
जैसे कमल पुष्प खिल जाय ।।
कमलाकान्त का यह चंचल मन,
तव चरण को कर जीवन धन ।
चाहे भृंग होकर मँडराय ।।

हरि को देखे बिन नहीं चैन

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

हरि को देखे बिन नहीं चैन ।
री सखि ! हरि शोभा के सागर मोसे कहत बनै न ।
नव नीलम-सम कान्ति मनोहर, तन अतिशय छवि ऐन ।
हरिनी के नैनन के नीके है, हरि जू के नैन ।
वेद-पुराण सकल विधि शोभा हरि को बरनि सकैं न ।
सदानन्द सुखधाम श्याम-छवि लखि लाजत शत नैन ।
भानुदत्त देखत हरि-मुख-छवि मुख नहि आवत बैन ।।

मन उस दिन की सोच

स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती

मन उस दिन की सोच काल जब आयेगा ।
रे मतवाले मूढ़ संग क्या जायेगा ।।
स्वाँसा के आने-जाने का क्रम जब टूटेगा,
तो बरसों में जोड़ा जो वो क्षण में छूटेगा ।
बोल तू क्या कर पायेगा ।। मन उस दिन ....
हुआ सभी के संग तेरे संग भी होयेगा,
जग न सकेगा कभी नींद तू ऐसी सोयेगा ।
तुझे संसार जगायेगा ।। मन उस दिन ...
कर न सकेगा सदा तू पूरी मन की इच्छा,
कर ले प्रभु का भजन मान सद्गुरु की शिक्षा ।
नहीं तो पछतायेगा ।। मन उस दिन ...
सत्संगति में बैठ कुसंगति से तू हट ले,
राजेश्वर आनन्द नाम श्रीराम का रट ले ।
तुरन्त भवरोग मिटायेगा । मन उस दिन ...

ओम् ओम् नित कहि रे

नत्थूलाल चतुर्वेदी

मन तू ब्रह्म चरणरत रहि रे ।
घट-घटवासी हर अविनाशी,
ओम ओम नित कहि रे ।।
ढाल सत्य की निर्भय लेकर,
हिम अंचल चित लहि रे ।
जग की विषम वासना तजि कर,
परानन्द मग गहि रे ।।

(काली नामावली)

काल विनाशिनी काली जय जय ।
आद्या शक्ति काली जय जय ।।
ब्रह्म स्वरूपिणी काली जय जय ।
रामकृष्ण प्रिय काली जय जय ।।

सम्पादकीय

भारतीय प्राण-वीणा की झंकृति : तपस्विनी निवेदिता

सम्माननीय पाठको ! स्वामी विवेकानन्द की महान शिष्या भगिनी निवेदिता की १५०वीं जन्म-जयन्ती देश-विदेश में मनाई जा रही है। इस उपलक्ष्य में 'विवेक ज्योति' का यह अंक 'भगिनी निवेदिता विशेषांक' के रूप में निवेदित है। इसमें प्रकाशित लेखों के द्वारा निवेदिता के महान जीवन के सर्वांगीण पक्षों को प्रकाशित करने का एक अल्प प्रयास किया गया है। कैसे पाश्चात्य की धरती पर पली-बढ़ी निवेदिता भारतीय संस्कृति को सर्वांगीण रूप से समर्पित हो जाती हैं, इसकी झलक आपको इस अंक में देखने को मिलेगी और उनके द्वारा भारतीय पुनर्जागरण में किये गये योगदान को समझने में सहायता मिलेगी।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, 'भारत का प्राण है धर्म।' भारत का धर्म शाश्वत है, सनातन है। यहाँ की संस्कृति सनातन धर्म से अनुप्राणित है। इसीलिये यह कभी नष्ट नहीं होती। यहाँ की सनातन धर्मपरायणा संस्कृति विभिन्न संकटों से गुजरने के बाद भी संजीवित रहती है। काल के अन्तराल में इसमें ह्रास होता है, लेकिन यह पुन: जाग्रत होकर अपने गौरव में प्रतिष्ठित हो जाती है। स्वामीजी ने यह भी कहा था, 'त्याग और सेवा ही भारत के आदर्श हैं।' इसी आदर्श को हमारे ऋषि-मुनियों और महान पुरुषों ने आत्मसात् किया और लोकसेवार्थ सुख-सुविधा-स्वार्थ का परित्याग कर अपना जीवन समर्पित कर दिया। भारतीय जागरण और इसके विकास में भारतवासियों के अतिरिक्त एक पाश्चात्यवासिनी नारी का अविस्मरणीय योगदान रहा, जिन्हें हम श्रद्धा से भगिनी निवेदिता कहते हैं।

निवेदिता के जीवन के एक आयाम में सनातन धर्म की सत्यता, त्याग, तपस्या, सहिष्णुता, श्रद्धा, समर्पण, उदारता, तत्त्व-जिज्ञासा, तत्त्वानुभूति की साधना की तत्परता थी, वहीं उनके जीवन के दूसरे आयाम में उत्साह, वीरता, शौर्य और निर्भयता थी। इन सबके अतिरिक्त उनके जीवन में सर्वाधिक सर्वोपरि थी – मानवीय संवेदना, सबसे प्रेम और सेवा, परमादर्श प्राप्ति हेतु तप तथा इसके लिये वे अपने जीवन को बलिदान करने के लिये उद्यत थीं, जो तत्त्व भारतीय धर्म का प्राण है, धर्मसार है।

भगिनी निवेदिता का पूर्व नाम मार्गरेट नोबल था और वे आयरलैंड की थीं। स्वामी विवेकानन्द की आज्ञा से उन्होंने अपना जीवन भारतवर्ष के पुनरुत्थान हेतु समर्पित किया। स्वामी विवेकानन्द ने उनका 'निवेदिता' नामकरण किया।

निवेदिता केवल देशभक्त, समाज-सेविका और शिक्षाविद् नहीं थीं, उनके भारतीय कार्यों की पृष्ठभूमि में आध्यात्मिकता थी। इसलिये हमने उन्हें तपस्विनी निवेदिता कहा। वे परम सत्य की जिज्ञासु और उसकी अनुभूतिकर्त्री थीं। युवावस्था से ही उनमें सत्य को जानने की प्रबल इच्छा थी, जिसके लिये उन्हें अपने धर्म से मानसिक संघर्ष भी करना पड़ा था। उनके जीवन का लक्ष्य सत्य का साक्षात्कार करना था। गुरुवाक्य में विश्वास, श्रद्धा और निष्ठापूर्वक पालन से साधक अपने जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति करने में समर्थ होता है। निवेदिता ने यही किया। उन्होंने अपने गुरुदेव स्वामी विवेकानन्द की वाणी का अक्षरश: निष्ठा से पालन किया। स्वामीजी ने उन्हें कहा था कि भारत की सेवा करो। तबसे भारत का कण-कण निवेदिता का आराध्य हो गया। भारतीय कला, भारतवासी और भारतीयों के रहन-सहन में उन्हें आत्मीयता का बोध होने लगा। भारत की स्वाधीनता, भारतीय नर-नारियों में राष्ट्रीय भावना की प्रेरणा जाग्रत करना उनकी साधना बन गयी। उसके लिये संघर्ष उनकी तपस्या बन गयी। उन्होंने भारत के विकास और जागरण रूपी होम में अपने जीवन को हँसते-हँसते स्वाहा कर दिया।

अलमोड़ा में ध्यान की अनुभूति का वर्णन

स्वामी विवेकानन्द जानते थे, जिस महान कार्य हेतु निवेदिता ने संकल्प लिया है, जिसके लिये वह अपने लौकिक सारे सम्बन्ध, सुख-सुविधा, ममत्व आदि सर्वस्व त्यागकर यहाँ आई हुई है, वह बिना दृढ़ आध्यात्मिक आधार शिला के सम्यक्, स्थायी और आनन्दप्रदायक नहीं होगा। इसलिये एक ओर जहाँ स्वामीजी निवदिता को भारत के सम्बन्ध में विविध प्रकार की जानकारी देकर उन्हें भारत की सेवा के योग्य बना रहे थे, तो वहीं दूसरी ओर जीवन के परम लक्ष्य की अनुभूति हेतु उससे जप-ध्यान आदि की साधना भी कराई। इसलिये उन्होंने निवेदिता और अन्य कई विदेशी भक्तों के साथ भारत के गौरव हिमगिरि आच्छादित भगवान शिव की

भूमि हिमालय के अलमोड़ा और अमरनाथ की यात्रा भी की। उन यात्राओं में निवेदिता स्वामीजी के साथ विभिन्न विषयों पर सत्संग करतीं और अन्य समय में प्रार्थना और ध्यान भी करती थीं। उन दिनों की अपनी ध्यान की अनुभूति का वर्णन करते हुये निवेदिता ने लंदन के अपने मित्र को लिखा था, ''ध्यानावस्था धीरे-धीरे मेरे कार्यक्रमों में बढ़ते क्रम में थी। मैं सोचती हूँ कि इस विषय पर बोलना बहुत कठिन है, इसका शाब्दिक वर्णन करना असम्भव है। हाँ, कोई भी इस अवस्था का अनुभव कर सकता है और यहाँ आकर ध्यानावस्थित व्यक्ति को देख सकता है। इन पहाड़ों में प्रवाहित शीतल हवा और शान्ति के गूढ़ रहस्यमय तारों के प्रकाश का विवरण मैं नहीं लिख सकती। यह शान्तिमय नक्षत्रमय निशा तथा स्तब्ध शीतल वायु अवर्णनीय है। इसकी तो यहीं आकर अनुभूति की जा सकती है।''[१]

अलमोड़ा प्रवास के अन्तिम दिन का विवरण मिलता है, ''इस दिन निवेदिता ने स्वामी स्वरूपानन्द जी महाराज से गीता का अध्ययन किया। उसके बाद शाम को बहुत देर तक अपने प्रिय देवदारु के वृक्ष के नीचे ध्यान लगाकर बैठी रही।''[२] इन सन्दर्भों में निवेदिता की साधनात्मक जीवन की झलक मिलती है। उनके तपस्विनी रूप का उज्ज्वल प्रकाश दृष्टिगोचर होता है।

निवेदिता जब स्वामीजी के साथ हिमालय यात्रा में अलमोड़ा में थीं, तब उनके मानसिक द्वन्द्वों को स्वामीजी ने सदा के लिये एक ही स्पर्श से दूर कर दिया था। चाँदनी रात में स्वामीजी ने चाँद को देखकर निवेदिता से कहा, ''देखो, मुसलमानों के लिये नये चाँद का बहुत महत्त्व है। चलो हम भी नये चाँद के साथ नये जीवन की शुरुआत करें।'' इतना कहकर उन्होंने आशीर्वाद मुद्रा में दोनों हाथ उठाकर निवेदिता को आशीर्वाद दिया। इससे निवेदिता का मन पूर्ण परिवर्तित हो गया। इससे उनकी अन्तश्चेतना जाग्रत हो गयी। उनके सारे मानसिक द्वन्द्व हमेशा के लिये समाप्त हो गये और वे पूर्णरूपेण अपने गुरुदेव और उनके प्रिय भारत के लिये समर्पित हो गयीं।

बाद में निवेदिता अपनी एक सहेली को पत्र में लिखती हैं, प्रार्थना करो, ''मुझे ईश्वर इतनी शक्ति दें, इतना ज्ञान दें, इतनी भक्ति दें कि मैं स्वामीजी के कार्य को पूर्ण कर सकूँ।''

निवेदिता के त्याग, तप, संघर्ष और समर्पण से सन्तुष्ट होकर ही उनके गुरुदेव स्वामी विवेकानन्द जी ने उसे आशीर्वाद दिया था, जो 'आशीर्वाद' कविता के शीर्षक से प्रकाशित है, जो मानो महाकाव्य की प्रतिध्वनि है –

माँ का हृदय, वीर की दृढ़ता, मलय-पवन की मधुता।
ज्वलन्त आर्यवेदी की पावन शक्ति और मोहकता –
ये सब वैभव अन्य और जो जन के स्वप्न बने हों,
तुम्हें सहज ही आज प्राप्य हों, निश्छल भाव सने हों।
भारत के भावी पुत्रों की गूँजे तुममें वाणी।
मित्र, सेविका और बनो तुम, मंगलमय कल्याणी।।

इतना ही नहीं, अपनी प्रिय शिष्या के लिये ईश्वर से हार्दिक प्रार्थना भी स्वामीजी ने की थी। उन्होंने निवेदिता को लिखा था, ''मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि सभी उत्तम शक्तियाँ तुम तक पहुँचे और तुम्हारे कार्य में सहायक बनें। माँ काली स्वयं तुम्हारे मन में बसें तथा तुम्हारे हाथों से यह कार्य करवा लें। तुम्हें असीम शक्ति मिले, यही मेरी ईश्वर से प्रार्थना है। साथ ही तुम्हें अनन्त मानसिक शान्ति मिले, यही मैं चाहता हूँ।

''यदि श्रीरामकृष्णदेव की वाणी सत्य है, तो उन्होंने जिस तरह मेरा मार्गदर्शन किया, वैसे ही वे तुम्हारा भी मार्गदर्शन करेंगे। मुझे उनसे जितना सहयोग मिला है, उससे हजार गुना अधिक सहयोग तुम्हें उनसे मिले।''[३]

स्वामी विवेकानन्द का आशीर्वाद निवेदिता के जीवन में प्रतिफलित हुआ और उन्हें बाद में माँ काली की कृपा की अनुभूति हुई थी। कलकत्ता में कालीघाट के काली मन्दिर में १३ दिसम्बर, १८९९ और २८ अगस्त १८९९ को 'आलबर्ट हाल' में उनके द्वारा दिये व्याख्यानों से उनकी माँ काली के प्रति भक्ति प्रकट होती है। ५ जुलाई, १८९९ को मैक्लाउड को लिखे पत्र में निवेदिता ने अपनी काली माँ की अनुभूति का वर्णन किया है, जिसमें शायित शिव की आँखें काली की आँखों से संयुक्त हैं और काली का रूप स्वामीजी के दर्शनानुसार है।

निवेदिता ने कहा था, ...''स्वामीजी का सम्पूर्ण मन-प्राण देश का मानो ज्वलन्त महाकाव्य था और नामश्रवण मात्र से ही उनका सारा व्यक्तित्व गूढ़ भावोच्छ्वास से आप्लावित हो उठता था।''[४]

एक बार किसी ने निवेदिता से पूछा कि तुम भारत के लिये इतना श्रम, इतना कष्ट क्यों कर रही हो, क्या इससे कुछ विशेष लाभ होगा, निवेदिता ने उत्तर दिया, मैं इसलिये इतना प्रयत्न कर रही हूँ, यदि स्वामीजी पुन: भारत में आयें, तो उन्हें इतना कष्ट न सहना पड़े। ऐसी थीं विवेकानन्द की प्रिय शिष्या, माँ सारदा की खूकी, रवीन्द्रनाथ की लोकमाता और तपस्विनी भगिनी निवेदिता। ○○○

सन्दर्भ सूत्र – १. सिस्टर निवेदिता, प्रव्राजिका आत्मप्राणा पृ. ६६ **२.** वही, पृ. ६७ **३.** वही, पृ.१८३ **४.** विवेक ज्योति, १९६३, १.५७

भगिनी निवेदिता की स्मृति में

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(१९६७ में भगिनी निवेदिता की जन्म-शताब्दी पर आयोजित एक कार्यक्रम में रामकृष्ण संघ के दशम संघाध्यक्ष श्रद्धेय स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज द्वारा प्रदत्त प्रवचन को यहाँ विवेक-ज्योति के पाठकों के लाभार्थ दिया जा रहा है । – सं.)

आज हम यहाँ एक महान् आत्मा की जन्म-शताब्दी मनाने को उपस्थित हुए हैं, जिन्होंने विदेश में जन्म लेकर भी भारत को अपनी मातृभूमि बना लिया था और इसी की सेवा में अपना जीवन निवेदित कर दिया था। हिमालय की गोद में, जहाँ पर उन्होंने अन्तिम साँस ली थी, उनकी स्मृति में एक स्मारक बना हुआ है, जिस पर लिखा है, "यहीं पर भगिनी निवेदिता चिरविश्राम में लीन हैं, जिन्होंने भारत को अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया था।" यह अक्षरश: सत्य है।

वे आयरलैण्ड में जन्मीं, इंग्लैंड में पलीं, भारतवर्ष उनका कर्मक्षेत्र रहा, परन्तु अपने जीवन एवं कृतित्वों के द्वारा वे समूचे विश्व की धरोहर हैं। उनके आदर्शवाद तथा बलिदान की भावना ने उन्हें अमर आत्माओं की श्रेणी में पहुँचा दिया है। उनके माता-पिता निष्ठावान ईसाई थे और जन्म के समय ही उनकी माता ने उन्हें ईश्वर की सेवा में समर्पित कर दिया था। वे स्वयं भी आत्म-बलिदान तथा सत्यनिष्ठा आदि गुणों से विभूषित थीं। उनके अन्दर निहित समर्पण की अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए एक महात्मा के जीवन्त स्पर्श की जरूरत थी। १८९५ ई. में जब वे लन्दन में स्वामी विवेकानन्द से मिलीं, तो वह भी पूरा हो गया। इन 'हिन्दू योगी' के आकर्षक व्यक्तित्व के प्रभाव में न आने की उनकी सावधानी तथा अपनी स्वाधीन विचारधारा के बावजूद, वे स्वामीजी की महानता और उनके सन्देश की उदात्तता के सम्मोहन में आ गयीं। फल यह हुआ, जैसा कि उन्होंने बाद में कहा था, "मैंने उनके वीरतापूर्ण स्वभाव को पहचान लिया और उनके देशवासियों के प्रति स्नेह का सेवक बनने को उत्सुक हो गई ।"

भगिनी निवेदिता भारत को स्वामी विवेकानन्द की एक अनुपम भेंट थीं। स्वामीजी ने पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति में सुदृढ़ रूप से बद्धमूल इन प्रतिभाशालिनी महिला को वहाँ से उखाड़ कर भारतीय भूमि में प्रतिरोपित किया और उसमें जड़ें जमाने को बाध्य किया था। भगिनी निवेदिता जैसी वीरहृदय-महिला के लिये भी यह परिवर्तन पीड़ादायक था, परन्तु अन्त में वे सफल हुईं। स्वामीजी जैसे आचार्य की शिष्या बनना और उनकी इच्छा के अनुरूप भारत की सेविका बन पाना कोई हँसी-खेल नहीं था; परन्तु स्वामीजी को मालूम था कि निवेदिता से कितनी अपेक्षा की जा सकती है और उन्हें निराश नहीं होना पड़ा। निवेदिता का अपने गुरुदेव में जो असीम विश्वास था, जिनकी देख-रेख में उनका कठोर, आध्यात्मिक प्रशिक्षण हुआ तथा श्रीमाँ सारदा देवी ने उन्हें जो अपनी लाडली बच्ची के रूप में स्वीकार किया तथा आशीर्वाद दिया – इन सबने मिलकर असम्भव को भी सम्भव बना दिया। इसके बाद तो उन्होंने विविध कार्यों के माध्यम से अपने आपको भारत की सेवा में समर्पित कर दिया। उन्होंने भारत के नवयुवकों में स्वदेश-प्रेम की प्रेरणा जगायी और उनका आह्वान किया कि वे स्वाधीनता की बलिवेदी पर अपने जीवन को समर्पित कर दें। उन्होंने भारतीय नारियों की शिक्षा तथा अभ्युत्थान के लिए भी कार्य किया। भारतीय सांस्कृतिक आदर्श के विविध क्षेत्रों – यथा कला, शिक्षा, सामाजिक जीवन, धर्म, धार्मिक प्रतीकवाद आदि को पश्चिम के लिए सहजबोध्य बनाने हेतु उन्होंने बहुत-से व्याख्यान दिए थे; और 'धर्म तथा साम्प्रदायिकता, 'भारतीय जीवन का ताना-बाना', 'भारतीय इतिहास की पगध्वनि, 'शिव और बुद्ध', 'काली माता' आदि ग्रन्थों का अँग्रेजी में लेखन किया था। उन्होंने अपने समय के अनेक भारतीय लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों को प्रभावित किया था।

शिक्षा के क्षेत्र में निवेदिता का जन्मजात अधिकार था और वे उसके लिये आवश्यक दृष्टिकोण तथा गुणों से सम्पन्न थीं। भारत में बालिकाओं की शिक्षा के लिए उन्होंने एक स्कूल खोला था, जो आज 'निवेदिता बालिका विद्यालय' के रूप में विख्यात है। इसके अलावा भारत में

राष्ट्रीय शिक्षा की आधारशिला रखने में भी उनका बहुत बड़ा योगदान रहा है। कला, साहित्य, विज्ञान, शिक्षा, पत्रकारिता एवं राजनीति के क्षेत्रों से अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति उनकी ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने उन लोगों को उनके अपने ही कार्यक्षेत्र में प्रेरणा तथा सहायता प्रदान की। उनके चारित्रिक बल, सरल हृदय, मौलिकता तथा निरहंकारिता ने बहुतों को उनके प्रति प्रेमपूर्ण उद्‌गार व्यक्त करने को विवश कर दिया था। उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण प्रशस्ति थी – "भगवान की प्रफुल्ल बच्ची"। उनकी अन्तर्निहित पवित्रता और उनके गुरुदेव (स्वामी विवेकानन्द) और श्रीमाँ के आशीर्वाद ने मिलकर मार्गरेट ई. नोबल को एक 'ज्योतिर्मयी देवकन्या' में परिणत कर दिया था।

भारत की यथासाध्य सेवा करते हुए उनकी यह धारणा बन गयी थी कि राजनीतिक स्वाधीनता के बिना राष्ट्र का निर्माण सम्भव नहीं है। रामकृष्ण मिशन ने, अपने संस्थापक स्वामी विवेकानन्द के आदेश पर, स्वयं को राजनीति से पूर्णरूपेण अलग रखने का निर्णय लिया था और इस कारण निवेदिता उनके मिशन पर आँच नहीं आने देना चाहती थीं। अत: संघ तथा अपनी अन्तरात्मा के प्रति कर्तव्य-निष्ठ बने रहने के लिये उन्होंने मिशन से त्यागपत्र दे दिया, ताकि वे स्वाधीनता-पूर्वक राजनीति में भाग ले सकें, तथापि मिशन के साथ उन्होंने अपना आध्यात्मिक सम्बन्ध बनाये रखा। स्वामीजी के गुरुभाइयों ने भी उनके साथ पूर्ववत् ही स्नेहभाव बनाये रखा। वे भी पहले ही के समान उनके साथ अपनत्व बनाये रहीं। रामकृष्ण संघ की सुरक्षा को ध्यान में रखकर ही उन्होंने उससे औपचारिक तौर पर सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था, अन्य किसी भी दृष्टिकोण से नहीं। कुछ क्षेत्रों में लोगों के द्वारा, जो इस निर्णय के पीछे की सत्यकथा नहीं जानते थे, उनके इस कार्य का अनुचित अर्थ लगाया गया। नि:सन्देह भगिनी के लिये वह बड़ा ही पीड़ादायी था, तथापि उन्हें लगा कि अपने प्रिय संघ तथा अपनी अन्तरात्मा के प्रति कर्तव्य-निष्ठ होने का उनके लिये एकमात्र यही रास्ता था।

उनकी राजनीति थोड़े आक्रामक ढंग की थी; और उनमें आवेदन-मूलक नरमपन्थी राजनीति के पथ पर चलने का धैर्य न था। इसी कारण उन्होंने 'स्वदेशी आन्दोलन' को अपना पूरा समर्थन प्रदान किया था। अपनी इस उग्रवादी राजनीतिक विचारधारा के बावजूद वे विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं वाले नेताओं की मित्र थीं, क्योंकि उन्हें ऐसा बोध हुआ था कि एकता लाये बिना स्वाधीनता पाना असम्भव है। 'भारत में धर्म को सर्वत्र पुन: प्रतिष्ठित देखना' – यही उनका एक प्रिय स्वप्न था। उनका विश्वास था कि इसी से सम्पूर्ण राष्ट्र एकता के सूत्र में निबद्ध होगा – 'एक सामान्य दुर्बलता में नहीं, एक सामान्य दुर्भाग्य या दुर्दिन में नहीं, अपितु एक महान् चिरजाग्रत राष्ट्रीयता के बोध में, सामान्य पैतृक सम्पदा में।'

निवेदिता ने अनेक दु:ख-कष्ट सहते हुए कठोर तपश्चर्या का जीवन बिताया था; वे सदा-सर्वदा इसके लिये प्रस्तुत रहतीं। स्वामी विवेकानन्द ने निम्नांकित शब्दों में उनके समक्ष बलिदान का आदर्श रखा था, "पूर्वकाल में भी यही बलिदान ही नियम रहा है और हाय, भावी युगों में भी यही नियम रहेगा।" निवेदिता ने गुरु-प्रदत्त इस आदर्श को अपना लिया था, क्योंकि हमें उनके 'काली माता' ग्रन्थ में मिलता है, "अपने लिए दया की अपेक्षा न करो। मैं तुम्हें औरों के लिये दया का महान् वाहक बना दूँगी। अपने दु:ख के अन्धकार को वीरतापूर्वक स्वीकार करो और तुम्हारा दीप बहुतों के मन को प्रसन्नता से आलोकित कर देगा। छोटे-से-छोटे कार्यों को आनन्द के साथ सम्पन्न करो, उच्च पदों की इच्छा का परित्याग कर दो।"

स्वामी विवेकानन्द से, जिन्होंने भगिनी निवेदिता के रूप में अपनी मातृभूमि को यह अतुलनीय उपहार निवेदित किया था, मेरी हार्दिक प्रार्थना है कि इस महान् आत्मा का जीवन हमारे नवयुवकों को अपनी मातृभूमि की सेवा में सर्वदा प्रेरित करता रहे। ○○○

जब कोई मानवजाति के कल्याणार्थ सम्पूर्ण आत्म-समर्पण करता है, तब वह देवता के हस्तस्थित वज्र के समान शक्तिसम्पन्न हो जाता है । अशिक्षित, असहाय एक मानव के ऊपर अत्याचार करना सहज है, किन्तु सचेतन, संगठित दस हजार मनुष्य के ऊपर अत्याचार करना कठिन है । स्वयं चिन्तन कर मार्ग का संधान करो । अपने चिन्तन को कार्य में परिणत करो । अतीत की भ्रान्तियों से शिक्षा ग्रहण करो ।

– भगिनी निवेदिता

निवेदिता की दृष्टि में स्वामी विवेकानन्द (१०)

संकलक : स्वामी विदेहात्मानन्द

१८९८, ९ मई

ऐसा ही एक दिन कभी भुलाया नहीं जा सकता। एक वृक्ष के नीचे बैठकर हम लोग बातें कर रहे थे, उसी समय सहसा आँधी आ गयी। पहले तो हम नदी के तटबन्ध पर और उसके बाद बरामदे में चले गये। दस मिनट के भीतर ही गंगा का दूसरा छोर दिखना बन्द हो गया। चारों दिशाएँ अन्धकार से आच्छन्न हो गयीं। केवल मूसलाधार वर्षा तथा वज्रपात की ध्वनि कर्णगोचर हो रही थी और बीच-बीच में बिजली चमक उठती थी।

तथापि बाह्य प्रकृति के इन समस्त हलचलों के बीच, हम अपने छोटे-से बरामदे में बैठे उससे भी कहीं अधिक गम्भीर एक अभिनय देखने में तन्मय थे। हमारे लघु रंगमंच के एक छोर से दूसरे छोर तक उसके एकमात्र अभिनेता की चहलकदमी चल रही थी; एक ही कण्ठ ने समस्त अभिनेताओं की भूमिका ग्रहण कर ली थी और जीवों का भगवत्प्रेम ही हमारे सम्मुख अभिनीत हो रहे नाटक की विषयवस्तु थी। बाद में वही भाव हममें भी संक्रमित हो जाने पर, उस समय हमारे मन में भी ऐसे ऊर्जस्वी प्रेम की उद्दीपना हुई, जिसे वेगवान नदी बहाकर नहीं ले जा सकती थी और प्रबल आँधी भी जिसमें बाधा नहीं डाल सकती थी। "विपुल जलराशि भी क्या कभी प्रेम की आग को बुझा सकती है; अथवा प्रबल आँधी भी उस पर विजय पा सकती है?" आखिरकार जड़ में भी प्राण का संचार करनेवाले उन देवता के विदा लेने के पूर्व हम सबने उनके चरणों में प्रणाम किया और उन्होंने भी हमें आशीर्वाद दिया।

१८९८, २५ मार्च

शुक्रवार (२७?) को, ईसाइयों के सूचना-उत्सव के दिन (The day of Annunciation, अर्थात् जिस दिन देवदूत ने आकर ईसाजननी मेरी को ईसा के भावी जन्म की सूचना दी थी।) स्वामीजी हम सभी को (नीलाम्बर बाबू के उद्यान में स्थित) मठ में ले गये और वहाँ मन्दिर में संक्षिप्त अनुष्ठान के बाद उन्होंने एक जन (निवेदिता) को ब्रह्मचर्य-व्रत में दीक्षित किया। वही उसके जीवन का सबसे आनन्दमय सबेरा था। पूजा के उपरान्त हम ऊपरी मंजिल पर गये। स्वामीजी ने योगीश्वर शिव के समान जटाजूट, भस्म तथा अस्थि-कुण्डल धारण कर घण्टे भर भारतीय वाद्ययंत्रों के साथ भजन गाये थे।[१]

---

१. दीक्षा प्रदान करने के बाद स्वामीजी के शिव का वेश धारण करने का एक अन्य वर्णन स्वामी-शिष्य संवाद के शुरुआती अंश में मिलता है। समय १८९८ ई. में २७ फरवरी के दो-एक दिन पूर्व श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि का प्रात:काल। स्थान – वही नीलाम्बर बाबू के उद्यान-भवन में स्थित मठ। स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण के जन्मतिथि के महान् दिवस पर 'ब्राह्मणेतर भक्तों को गायत्री मंत्र' प्रदान किया; उद्देश्य था 'क्रमश: देश के सब लोगों को ब्राह्मण पद पर उठा लेना होगा। ... सारे हिन्दू आपस में भाई-भाई हैं। 'इसे नहीं छूऊँगा, उसे नहीं छूऊँगा', कह-कह कर ही तो हमने इनको ऐसा बना दिया है। इसीलिए तो हमारा देश हीनता, भीरुता, मूर्खता तथा कापुरुषता की चरम अवस्थ को प्राप्त हुआ है।' उन्होंने ४०-५० लोगों को उपनयन प्रदान किया। थोड़ी देर बाद गिरीशचन्द्र घोष मठ में उपस्थित हुए। इसके बाद –

'अब स्वामीजी के आदेश पर संगीत का आयोजन होने लगा और मठ के संन्यासी लोग स्वामीजी को अपनी इच्छानुसार सजाने लगे। उनके कानों में शंख का कुण्डल, सर्वांग में कर्पूर के समान श्वेत पवित्र विभूति, मस्तक पर आपादलम्बित जटाभार, वाम हस्त में त्रिशूल, दोनों बाँहों में रुद्राक्ष की माला और गले में आजानुलम्बित तीन लड़ की बड़े रुद्राक्ष की माला आदि पहनायीं। यह सब धारण करने पर स्वामीजी का रूप ऐसा शोभायमान हुआ कि उसका वर्णन करना सम्भव नहीं। उस दिन जिन लोगों ने उनकी इस मूर्ति का दर्शन किया था, उन्होंने एक स्वर से कहा था कि साक्षात् कालभैरव स्वामी-शरीर रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं। स्वामीजी ने भी अन्य सब संन्यासियों के शरीर में विभूति लगा दी। उन्होंने स्वामीजी के चारों ओर सदेह भैरवगण के समान स्थित होकर, मठ-भूमि पर कैलाश पर्वत की शोभा का विस्तार किया। आज भी उस दृश्य का स्मरण हो आने से बड़ा आनन्द आता है।

इसके बाद स्वामीजी पश्चिम दिशा की ओर मुँह फेरे हुए मुक्त पद्मासन में बैठकर 'कूजन्तं रामरामेति' स्तोत्र धीरे-धीरे उच्चारण करने लगे और अन्त में बारम्बार 'राम राम श्री राम राम' कहने लगे। ऐसा अनुमान होता था कि मानो प्रत्येक अक्षर से अमृत धारा बह रही है। स्वामीजी के नेत्र अर्द्धनिमीलित थे और वे हाथ से तानपूरे में स्वर दे रहे थे। कुछ देर तक मठ में 'राम राम श्री राम राम' ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ भी सुनने में नहीं आया। इस प्रकार लगभग आधे घण्टे से भी अधिक समय व्यतीत हो गया, तब भी किसी के मुँह से अन्य कोई शब्द नहीं निकला। स्वामीजी के कण्ठ से नि:सृत रामनाम सुधा को पान कर आज सब मतवाले हो गए है। शिष्य विचार करने लगा, क्या सममुच ही स्वामीजी शिव के भाव से मतवाले होकर रामनाम ले रहे हैं?

स्वामीजी के मुख का स्वाभाविक गाम्भीर्य मानो आज सौगुना हो गया है। अर्द्धनिमीलित नेत्रों से मानो बाल सूर्य की प्रभा निकल रही है और गहरे

१८९८, ११ मई से २५ मई

अल्मोड़ा के इन प्रात:कालीन वार्तालापों में एक नवीन तथा अननुभूत तत्त्व भी आ गया था, जिसकी स्मृति कष्टदायी होकर भी शिक्षाप्रद है। इसमें एक तरफ मानो एक विचित्र-सी कटुता तथा अविश्वास और दूसरी तरफ झल्लाहट व हठ का भाव था। पाठकों को यहाँ स्मरण रखना होगा कि स्वामीजी के वहाँ उपस्थित शिष्यों में सबसे छोटी एक अंग्रेज महिला (स्वयं निवेदिता) थी और विचारधारा की दृष्टि से इस घटना का महत्त्व कितना है, कितने प्रबल पक्षपात के साथ अंगरेज लोग भारत को समझने का प्रयास करते हैं और वे लोग अपनी जाति, अपने कीर्तिकलाप तथा इतिहास को कैसे अन्ध-गौरव की दृष्टि से देखते हैं – इस विषय में उक्त शिष्या के मठ में दीक्षित होने के परवर्ती दिन तक स्वामीजी को कोई स्पष्ट धारणा न थी। उसी दिन जब स्वामीजी ने उल्लासपूर्वक उससे प्रश्न किया था, "अब तुम किस देश की हो?" तो उत्तर सुनकर स्वामीजी विस्मित रह गये। उन्होंने पाया कि अब भी वह अंग्रेजों की राष्ट्रीय पताका को ही श्रद्धा-भक्ति की दृष्टि से देखती है, उन्होंने पाया कि एक भारतीय महिला का अपने इष्टदेव के प्रति जो भाव होता है, वही भाव उसका उस ध्वज के प्रति है। कहा जा सकता है कि स्वामीजी का तात्कालिक विस्मय तथा निराश होना तत्काल व्यक्त नहीं हुआ। बस, एक विस्मयपूर्ण दृष्टि मात्र और कुछ भी नहीं; और वह शिष्या किस प्रकार सतही तौर पर उनकी टोली में सम्मिलित हुई है, यह जानकर भी बंगाल में निवास के बाकी कुछ सप्ताहों के दौरान उनकी आस्था तथा सौजन्य में जरा भी ह्रास नहीं आया था।

परन्तु अल्मोड़ा में आकर ऐसा लगा मानो अब एक नया पाठ शुरू हो गया है। जैसे विद्यार्थी को पाठशाला की शिक्षा प्राय: अप्रीतिकर ही लगती है, वैसे ही यहाँ भी अत्यन्त कष्टसाध्य होने पर भी यह बात हृदयंगम हुई कि अपूर्ण दृष्टिकोण को पूर्णत: छोड़ना आवश्यक है। एक मन से उसके स्वाभाविक भावकेन्द्र का त्याग कराना होगा। इससे अधिक और कुछ नहीं किया गया। कभी कोई धारणा या मत बलपूर्वक आरोपित करने का प्रयास नहीं हुआ, केवल उसे एकांगीपने से मुक्त करने का प्रयास हुआ था। इस भयानक परीक्षा के अन्त में भी शिष्या के नवीन विश्वास तथा मत की क्या परिणति हुई, यह जानने की भी उन्हें कोई उत्सुकता नहीं थी और जहाँ जाति तथा देश का प्रश्न जुड़ा है, उन सब क्षेत्रों में शिक्षा की इससे जबरदस्त किसी प्रणाली का और कहीं आश्रय नहीं लिया गया है। स्वामीजी ने इस विषय का फिर कभी उल्लेख तक नहीं किया। उनकी श्रोत्री को भी इसके बाद से छुटकारा मिल गया। परन्तु उनकी चिन्तन-प्रणाली तथा अनुभूतिगत भेद इतने पूर्ण तथा प्रबल भाव से व्यक्त हुए थे कि शिष्या के लिये मानसिक राज्य में निश्चेष्ट रह पाना असम्भव हो गया था और आखिरकार अपने स्वयं के प्रयासों से उसने एक ऐसे भाव तथा आदर्श का आविष्कार कर लिया था, जो इन दोनों आंशिक मतों का न्यायसंगत समन्वय तथा व्याख्या स्वरूप था।

कई सप्ताह बाद एक बार किसी घटना के प्रसंग में उक्त शिष्या का निरपेक्ष मत जानने का प्रयास करने पर अत्यन्त हताश होकर स्वामीजी कह उठे, "वस्तुत: तुम्हारे जैसा स्वदेशप्रेम तो पाप है! मैं चाहता हूँ कि तुम इतनी-सी बात समझ लो कि अधिकांश लोग स्वार्थ की प्रेरणा से ही कार्य किया करते हैं और तुम निरन्तर इसका प्रतिरोध करती हुई कहती हो कि एक राष्ट्र-विशेष के सभी लोग देवतुल्य हैं। अज्ञान के प्रति ऐसी दृढ़ता तो दुष्टता का द्योतक है!"

एक अन्य विषय पर अर्थात् स्त्रीजाति के प्रति पाश्चात्य लोगों की आधुनिक धारणा के विषय में इस शिष्या ने बड़े हठ का परिचय दिया था। मन की जिस उदार तथा नि:स्वार्थ अवस्था में लोग सत्य को ग्रहण करते हैं, उसकी तुलना में इन दोनों स्थलों पर अपनी सीमाबद्ध सहानुभूति की अभिव्यक्ति अब इस शिष्या को अत्यन्त तुच्छ तथा हीनबुद्धि से उपजी प्रतीत होती है। परन्तु उस समय वह संकीर्णता वास्तव में ही गन्तव्य-पथ की एक महान बाधा बन गयी थी और उसके सामने जिस आदर्श मानवत्व का अभिनय चल रहा था, उसके बीच में कोई भी आवरण आने देना निर्बुद्धिता है – यह बात हृदयंगम न होने तक वह बाधा दूर नहीं हुई। एक बार इसे समझ लेने के बाद वह जिन समस्त बातों को मान लेने तथा समझ लेने में अक्षम हो जाती, उनके प्रति भी वह सहज ही निरपेक्ष रह पाती और उस विषय में अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचना कालसापेक्ष है – ऐसा सोचकर ही वह निश्चिन्त रह सकी। **(क्रमशः)**

नशे में मानो उनका सुन्दर शरीर झूम रहा है। इस रूप का वर्णन करना अथवा किसी को समझाना सम्भव नहीं। इसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है। दर्शकगण चित्र के समान स्थिर बैठे रहे।'

स्वामीजी के शिवभाव और उसके बाद भजन आदि तथा आध्यात्मिक भावावेश उद्धृत करने का कारण यह है कि निवेदिता ने भी अपनी प्रथम दीक्षा के दिन अपनी संगिनियों के साथ स्वामीजी की एक ऐसी ही अवस्था का दर्शन किया था।
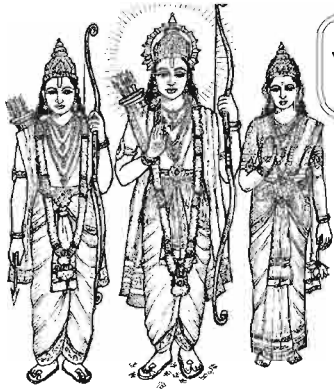
यथार्थ शरणागति का स्वरूप (३/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पं रामकिंकर महाराज श्रीरामचरितमानस के अप्रतिम विलक्षण व्याख्याकार थे। रामचरितमानस में रस है, इसे सभी जानते हैं और कहते हैं, किन्तु रामचरितमानस में रहस्य है, इसके उद्घाटक 'युगतुलसी' की उपाधि से विभूषित श्रीरामकिंकर जी महाराज थे। उन्होंने यह प्रवचन रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के पावन प्रांगण में १९९२ में विवेकानन्द जयन्ती के उपलक्ष्य में दिया था। 'विवेक-ज्योति' हेतु इसका टेप से अनुलिखन स्वर्गीय श्री राजेन्द्र तिवारी जी और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। – सं.)

उसके बाद भगवान श्रीराम अपने मित्रों के समक्ष एक प्रश्न रखते हैं –

संकुल मकर उरग झष जाती।

अति अगाध दुस्तर बहु भाँती।। ५/४९/६

मित्रो, यह जो समुद्र है, इसमें बड़े-बड़े जंतु हैं, बड़े-बड़े मगर, मत्स्य, कच्छप हैं।

करिय दैव जौं होइ सहाई। ५/५०/१

तुमने जैसा कहा है मैं वैसा ही करूँगा। दैव यदि सहायक होगा, तो तुम्हारी यह बात, तुम्हारा संकल्प पूरा होगा। वहीं पर लक्ष्मणजी हैं। प्रभु की बात सुनकर इतने उतावले हो रहे हैं कि उधर जनकनन्दिनी श्रीसीता बंदी होकर इतना दुख भोग रही हैं और प्रभु समुद्र के किनारे बैठकर अनशन करेंगे, प्रार्थना करेंगे। विभीषण कह रहे हैं, यह समुद्र आपके कुलगुरु हैं। उसके साथ-साथ प्रभु ने यहाँ तक कह दिया कि दैव सहायक होगा। वे तो स्पष्ट बोलने के अभ्यस्त हैं। बस, गोस्वामीजी ने कहा –

मंत्र न यह लछिमन मन भावा।

राम बचन सुनि अति दुख पावा।। ५/५०/२

तब भगवान श्रीराम से उन्होंने सीधे कहा –

नाथ दैव कर कौन भरोसा।

सोषिय सिंधु करिअ मन रोसा।। ५/५०/३

वे इतने पुरुषार्थी हैं, बोले, दैव पर भरोसा करना आवश्यक होता है क्या? आप क्रोध कीजिए और समुद्र को सुखा दीजिए। जब उन्होंने यह वाक्य कहा, तो प्रभु ने मुस्कराकर देखा। सारे शास्त्रों में दैव की महिमा का वर्णन नहीं है क्या? उन्होंने कहा कि हाँ महाराज, वह कुछ लोगों के लिये है। किसके लिये? बोले –

कादर मनकहुँ एक अधारा।

दैव दैव आलसी पुकारा।। ५/५०/४

ये जितने आलसी हैं, सब दैव ही दैव तो किया करते हैं। ये दैव दैव करने वाले तो कभी किसी कार्य में सफल नहीं होते।

यह जो देहाभिमान, देहाध्यास का समुद्र है, उसको कैसे पार करें? इस सम्बन्ध में दो मत हैं। एक मत है विभीषण का और दूसरा लक्ष्मणजी का। विभीषण कहते हैं कि उपवास कीजिए, प्रार्थना कीजिए। अब इसे सांकेतिक अर्थों में यदि देखें, तो एक पक्ष यह मानता है कि शरीर से जुड़ा हुआ, जो अभिमान है, उसका प्रार्थना के द्वारा, उपवास के द्वारा सदुपयोग करना चाहिए। इसलिये हमारे यहाँ उपवासों का बड़ा महत्त्व है। व्रत का बड़ा महत्त्व है। उसके द्वारा कम से कम पंद्रह दिन में एक बार, महीने में एक बार, लम्बे समय में कम से कम एक बार तो शरीर की भूख-प्यास से ऊपर उठ जायँ। यह एक अभ्यास है। क्योंकि नित्य तो हम यह अनुभव करते हैं कि भोजन किए बिना नहीं रहा जायेगा, पानी बिना नहीं रहा जायगा। पर जब हम वह उपवास करते हैं, तो उसका अर्थ है कि उस समय हम शरीर से ऊपर उठ जाते हैं। अब उठते कितने लोग हैं, यह बात तो अलग है। लोग व्रत करते समय भी योजना बनाते हैं कि कल क्या बनेगा और उसकी लम्बी सूची होती है। फिर उस दिन भी कितना स्वादिष्ट फलाहार हो, ऐसा सोचते हैं। वे लोग तो उपवास करते हुए भी देह के ही चिन्तन में डूबे हुए हैं। कभी-कभी वे परम्पराएँ भी एक नये स्वाद के या देह की एक नई पूजा के रूप में परिणत हो जाती हैं। पर उपवास का उद्देश्य बड़ा पवित्र है। निरन्तर हम यह देखते हैं कि हम शरीर के अनुसार चलते हैं। पर व्रत के दिन हम यह अनुभव करें कि, नहीं, आज हम शरीर की इच्छा के अनुकूल नहीं चलेंगे। हम शरीर

को अपनी इच्छा के अनुसार चलावेंगे। एक पक्ष यह है।

श्री लक्ष्मणजी कौन हैं? श्रीलक्ष्मणजी को रामचरितमानस में अनेक रूपों में प्रस्तुत किया गया है, उनमें से एक रूप है, वैराग्य। वे मूर्तिमान वैराग्य हैं।

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर।। २/३२१

लक्ष्मणजी की मान्यता यह है कि इस देह को कितना भी मनाया जाय, चाहे जितनी इसकी पूजा की जाय, पर यह तो अपना स्वभाव कभी नहीं छोड़ेगा। इसलिये इसको तो पूरी तरह से भस्म कर देना चाहिये। शरीर को भस्म कर देने का तात्पर्य उतना नहीं है, जितना देहाभिमान और देहाध्यास को भस्म करना है। इसका अभिप्राय है कि देह की वृत्ति को छोड़कर देह से ऊपर उठ जाना, देह-बोध से ऊपर उठ जाना, वैराग्य की अग्नि में उसे जला देना।

इसीलिये भगवान जब लक्ष्मण को उपदेश देते हैं, तुम माता-पिता की सेवा करो, तो आप ध्यान से विचार करके उस पर दृष्टि डालें, तो पायेंगे कि धर्म का जो श्रीगणेश होगा, आरम्भ जो होगा, वह तो शरीर से ही होगा। शरीर से होगा कहने का अभिप्राय यह है कि जिस शरीर ने हमारे शरीर को जन्म दिया, जिसने हमें जन्म देने के लिये इतना कष्ट उठाया, वह माँ हमारे लिये वन्दनीया है, पूज्य है। कृतज्ञतापूर्वक माँ की सेवा करना, माँ की आज्ञा का पालन करना, पुत्र का कर्तव्य है। पिता की आज्ञा का पालन करना, पितृऋण से मुक्त होना, पुत्र का कर्तव्य है। इस तरह धर्म की प्रारम्भिक कथा शरीर से ही प्रारम्भ होती है और होनी भी चाहिये। किन्तु, केन्द्र बदल जाता है। वह केन्द्र परिवर्तित होकर देह के स्थान से एक दूसरे स्थान पर चला जाता है। धर्म जब भक्ति की दिशा में परिणत होता है, तब उसमें सूत्र वही है कि पिता की आज्ञा का पालन करना चाहिये, माता की आज्ञा का पालन करना चाहिये, सेवा करनी चाहिये, पर वहाँ आकर पिता-माता का अर्थ बदल जाता है। क्या बदल गया? इसका उत्तर आपको मिलेगा, सुमित्रा अम्बा ने लक्ष्मण को जो उपदेश दिया, वहाँ पिता और माता की सेवा तो है, पर माता और पिता का अर्थ बदल गया है। गोस्वामीजी ने भी गीतावली रामायण में कहा कि हाँ, शास्त्र यह कहते हैं कि माता-पिता-बन्धु की सेवा करनी चाहिये। किन्तु कृपया इसको सुनकर माता-पिता का तिरस्कार न करने लगिएगा। अभी तो हम सब शरीर में ही बैठे हुए हैं, नहीं तो कथा में नींद क्यों आती। इसलिये पहले शरीर वाले धर्म का भी अपना स्थान है, महत्त्व है, पर एक स्थिति ऐसी आती है कि व्यक्ति अगर केवल शरीर ही होता, तो धर्म का सारा निर्णय शरीर के माध्यम से होता। भगवान श्रीराम लक्ष्मण को कहते हैं कि तुम जाकर माता से विदा माँगकर आओ और मेरे साथ चलो। मानो उसका सही सूत्र माँ सुमित्रा ने लक्ष्मणजी को दिया, जिसे सुनकर लक्ष्मणजी को लगा कि मैंने जो उत्तर दिया प्रभु को, वह शायद उतना उपयुक्त नहीं था, जितना माँ के द्वारा बताया गया यह उत्तर है। वह उत्तर इतना ही तो था, जब लक्ष्मणजी से सारा समाचार माँ को सुनने को मिल गया, तो माँ ने पूछा कि तुमसे राघवेन्द्र ने क्या कहा? उन्होंने कहा कि अयोध्या में रहकर माता-पिता की और सबकी सेवा करो। यही धर्म है और इसी धर्म का तुम्हें पालन करना चाहिए। तुमने क्या कहा? माँ मैंने तो यह कह दिया था –

गुरु पितु मातु न जानऊँ काहू। २/७१/४

उन्हें माँ के सामने कहते हुए संकोच लगा, पर उन्होंने बता दिया, मैंने तो यही कहा कि मैं तो माता-पिता-गुरु किसी को नहीं जानता। मैं आपको छोड़कर एक क्षण के लिये भी जीवित नहीं रह सकता। सुमित्रा अम्बा ने कहा कि तुम्हारा उत्तर तो सही नहीं है। इसका अर्थ है कि तुमने प्रभु की बात काट दी। प्रभु की बात काटना चाहिये क्या? तब माँ ने कहा कि प्रभु ने जब तुम्हें यह कहा कि अयोध्या में रहो, तो तुम्हें कहना चाहिए था – हाँ, अयोध्या में रहूँगा। जब उन्होंने कहा कि तुम माता-पिता की सेवा करो, तो कहना चाहिये था – हाँ प्रभु, माता-पिता की सेवा करूँगा। लक्ष्मणजी ने कहा कि तब तो फिर यह उलटी बात हो जाती। माँ ने कहा, नहीं, प्रभु से तुम्हें पहले यह प्रश्न करना चाहिए – प्रभु, पहले यह निर्णय हो जाय कि माता-पिता कौन हैं? तब उन्होंने कहा, उसका अर्थ है कि हमारे एक जन्म में एक शरीर को जिसने जन्म दिया, वह माता जब इतनी वन्दनीया है, उसका हमारे ऊपर इतना ऋण है, तो हमारा एक ही जन्म तो नहीं है। इसके पहले अनगिनत जन्म हुए हैं। तो ऐसी स्थिति में वह जो एक माँ है, जिसे हम माँ आदिशक्ति कहते हैं, वह कितनी वन्दनीया है, उसका कितना ऋण है। लक्ष्मणजी से माँ कहती हैं कि तुम्हें तो यह कहना चाहिये था कि महाराज, मैं अयोध्या

में ही रहना चाहता हूँ, माता-पिता की सेवा करना चाहता हूँ पर महाराज, मैं जानना चाहता हूँ कि अयोध्या है कहाँ, अयोध्या का अर्थ क्या है? तब माँ ने अर्थ बता दिया। माँ ने जो सूत्र दे दिया, वह महत्त्वपूर्ण है –

अवध तहाँ जहँ राम निवासू।
तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू।। २/७३/३

जहाँ सूर्य है, वहाँ दिन है। जहाँ सूर्य नहीं है, वहाँ रात्रि है। दिन और रात्रि तो आप जानते ही हैं। अभी सूर्य नहीं है, सूर्य का प्रकाश नहीं है, तो इस समय को हम रात्रि कहेंगे? जहाँ इस समय सूर्य का उदय हो रहा होगा, सूर्य का प्रकाश हो रहा होगा, उसे दिन कहेंगे। दिन और रात्रि का सम्बन्ध सूर्य से है। माँ ने कहा, जहाँ प्रभु निवास करते हैं, वहीं अयोध्या है। यदि वे कहते हैं कि माता-पिता की सेवा करो, तो स्पष्ट ही है –

तात तुम्हारि मातु बैदेही।
पिता रामु सब भाँति सनेही।। २/७३/२

तुम्हारी माँ वैदेही हैं। देह दृष्टि से देखोगे, तो माँ मैं हूँ और विदेह दृष्टि से देखोगे, तो तुम्हारी माँ वैदेही है। वे ही आदिशक्ति हैं। अगर देह की दृष्टि से देखोगे, तो तुम्हारे पिता महाराजश्री हैं और अगर तात्त्विक दृष्टि से विचार करोगे, तो तुम्हारे पिता श्रीराम हैं। मानो धर्म का सूत्र वही है, पर भक्ति में आकर वह व्याख्या बदल गई, परिवर्तित हो गई। अब शरीर के नाते माता-पिता, बन्धु का सम्बन्ध सबको स्वीकार करना चाहिये। पहले केन्द्र था शरीर, किन्तु माँ ने कहा, अब भी वही करना है, लेकिन अब शरीर को केन्द्र बनाकर निर्णय नहीं करना है, अपितु, उन्होंने सूत्र दिया –

पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें।
सब मानिअहिं राम के नातें।। २/७३/७

अगर पूज्यता है, तो राम के नाते, अगर प्रियता है, तो राम के नाते है। इसलिये लक्ष्मण, यह सूत्र तुम जब स्वीकार कर लोगे, तब तुम्हें लगेगा कि हमारे पूज्य जन, हमारे प्रिय वही हैं, जो साक्षात् ईश्वर के निकट हैं, ईश्वर से सम्बन्धित हैं। इसलिये माँ आदेश देती हैं कि लक्ष्मण, निश्चित रूप से तुम अयोध्या में रहकर माता-पिता की सेवा करो। अयोध्या में ही तुम सर्वदा निवास करो। मानो यहीं पर वह धर्म का सूत्र भक्ति के शास्त्र में आकर नया अर्थ ग्रहण कर लेता है। अब वह शरीर की सीमा में ही घिरा नहीं रह गया। क्योंकि जब हम शरीर की सीमा में सम्बन्ध का निर्णय करते हैं, तब जो हमारे सम्बन्धी हैं, प्रिय हैं, उनके लिये हम न जाने कितना कष्ट उठाते हैं और जिनका सम्बन्ध हमारे शरीर से नहीं होता है, हमारे मन में उनके प्रति कोई आकर्षण नहीं होता। उनके सुख-दुख की इतनी चिन्ता नहीं होती है। इसलिये मानो लक्ष्मणजी को वही दीक्षा मिली थी और यही भक्ति शास्त्र की शिक्षा है। यह उपदेश पाकर लक्ष्मणजी धन्य होते हैं, प्रसन्न होते हैं और जब जाने लगते हैं, तो इतने गद्गद भाव से सोचते हैं कि प्रभु का उद्देश्य क्या था। वह बड़े महत्त्व का सूत्र है। क्या? साधक जब किसी वस्तु का त्याग करता है, तो उसमें एक समस्या है, वह है, सात्त्विक अभिमान। सात्त्विक अभिमान का अभिप्राय है कि जिन वस्तुओं के लिये संसार के लोग लालायित रहते हैं, उनको मैंने छोड़ दिया। मैंने त्याग किया। तो माँ का उद्देश्य क्या है? लक्ष्मण सब कुछ छोड़कर जा रहा है। संसार की दृष्टि से माता-पिता, अयोध्या और सारे संसार को छोड़कर जा रहा है, कहीं यह अभिमान लेकर तो नहीं जा रहा है कि मैंने श्रीराम के लिये इतना सब छोड़ दिया? इसलिये माँ ने फिर सारे अर्थ बदल दिए। इसीलिये धर्म का जो अर्थ आचार्य लेते हैं, वह अलग है। उसी धर्म का अर्थ जब भक्तिशास्त्र में लेते हैं, तो वह अलग हो जाता है। भक्त उसे एक नया रूप दे देते हैं। तो सुमित्रा अम्बा ने सब कुछ परिवर्तित कर दिया। उन्होंने कहा कि माता-पिता श्रीराम-सीता हैं और अयोध्या जहाँ श्रीराम रहते हैं। माँ ने साफ-साफ कह दिया, तुम कोई त्याग नहीं कर रहे हो। माँ ने एक नई बात बताई, त्याग तो राम तुम्हारे लिये कर रहे हैं, सीताजी तुम्हारे लिये त्याग कर रही हैं। क्यों? तुम क्या त्याग कर रहे हो –

तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू।
सँग पितु मातु रामु सिय जासू।। २/७४/७

कोई बच्चा भ्रमण करने के लिये माता-पिता की गोद में जा रहा हो और कहे कि मैंने त्याग कर दिया। किसका त्याग कर दिया? राम तुम्हारे लिये सारे संसार के सुख को छोड़कर जा रहे हैं, माँ ने स्पष्ट कर दिया –

तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। २/७४/३

(क्रमशः)

श्रीमाँ सारदा देवी और निवेदिता

स्वामी मेधजानन्द
रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

भारत और नारी-शिक्षा

दक्षिणेश्वर में एक दिन श्रीरामकृष्ण देव ने अपने एक दर्शन के बारे में श्रीमाँ सारदा देवी से कहा था, "मैं श्वेत लोगों के देश में था। उनकी त्वचा श्वेत थी, उनके हृदय श्वेत – पवित्र थे और वे लोग सरल और निष्ठावान थे। वह बहुत ही अच्छा देश है। मुझे लगता है, मैं वहाँ जाऊँगा।"[१] स्पष्ट है कि श्रीरामकृष्ण देव यहाँ पाश्चात्य देश के लोगों के बारे में कह रहे हैं। वे स्थूल शरीर से स्वयं वहाँ नहीं जा सके, किन्तु स्वामी विवेकानन्द और अन्य शिष्यों के माध्यम से उन्होंने वहाँ सनातन धर्म के सन्देश का प्रचार किया।

स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो धर्म-महासभा के बाद अमेरिका, इंग्लैंड देशों के अनेक स्थानों में वेदान्त का प्रचार किया। स्वामीजी ने देखा कि पाश्चात्य देशों की भौतिक उन्नति का मुख्य कारण है – शिक्षा। वहाँ के सभ्य समाज में पुरुष और महिला दोनों को समान रूप से शिक्षा के अधिकार थे। अपने देश की आध्यात्मिक विरासत के बारे में स्वामीजी को गर्व था, किन्तु वे जानते थे कि दरिद्रता और शिक्षा के अभाव के कारण धर्म का रूप विकृत हो रहा है। भूखे पेट से भजन नहीं होता। आध्यात्मिक विरासत की दृष्टि से भारत विश्व में सिरमौर रहा है, किन्तु शिक्षा, विज्ञान आदि के क्षेत्र में तत्कालीन परिस्थितियों में भारत बहुत पीछे था। स्वामीजी चाहते थे कि भारत अपनी धर्म और आध्यात्मिक विरासत का प्रचार पाश्चात्य देश में करे और उसके बदले में उनसे शिक्षा, विज्ञान आदि क्षेत्रों में सहायता ले। वे कहते थे कि जिस प्रकार पक्षी एक पंख से उड़ नहीं सकता, उसी

१ दे लिव्ड विथ गॉड, पृ. ८१

प्रकार भारत के विकास के लिए पुरुष तथा नारी, दोनों की शिक्षा अत्यावश्यक है। नारी-शिक्षा उनके लिए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य था।

स्वामीजी ने अमेरिका से अपने गुरुभाई स्वामी शिवानन्दजी को पत्र में लिखा था, ''भाई, शक्ति के बिना जगत का उद्धार नहीं हो सकता। क्या कारण है कि संसार के सब देशों में हमारा देश ही सबसे शक्तिहीन और पिछड़ा हुआ है? इसका कारण यही है कि वहाँ शक्ति की अवमानना होती है। उस महाशक्ति को भारत में पुन: जाग्रत करने के लिए माँ (श्रीमाँ सारदा) का आविर्भाव हुआ है और उन्हें केन्द्र बनाकर फिर से जगत में गार्गी और मैत्रेयी जैसी नारियों का जन्म होगा।''[२]

स्वामीजी ने यह पत्र १८९४ में लिखा था। शिक्षा और आर्थिक दृष्टि से तत्कालीन भारतीय समाज की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। उसमें भी स्त्रियों की शिक्षा केवल इने-गिने उच्च वर्ग के घरों में होती थी। स्वामीजी चाहते थे कि नारी समाज स्वयं ही इस क्षेत्र में आगे बढ़े। किन्तु सामाजिक रूढ़ियाँ, परदा प्रथा, बालविवाह, विधवा-समस्या, इत्यादि अनेक ऐसे पहलू थे, जिसके कारण भारत में नारी-शिक्षा का कार्य आरम्भ करने में अनेक कठिनाइयाँ थीं। नारी समाज स्वयं भी इन सामाजिक मर्यादाओं के कारण शिक्षा इत्यादि के क्षेत्र में आगे बढ़ने से झिझक रहा था।

निवेदिता : एक आदर्श चरित्र

स्वामीजी ने इसका उल्लेख निवेदिता को लिखे एक पत्र में किया था, ''भारतवासियों के लिये, और विशेषकर महिलाओं के लिये कार्य करने हेतु, पुरुष की नहीं, बल्कि एक नारी की – एक सच्ची सिंहनी की आवश्यकता है।''[३] स्वामीजी को निवेदिता में वह 'आदर्श चरित्र' दिखा, जिसके आलोक में वे अपनी प्रस्तावित नारी-शिक्षा की योजना को सफल बना सकते थे। उन्होंने निवेदिता को एक पत्र में लिखा था, ''आज विश्व क्या चाहता है? एक आदर्श चरित्र ! संसार को आवश्यकता है, ऐसे लोगों की जिनका जीवन प्रेम और नि:स्वार्थता का ज्वलन्त उदाहरण हो। ऐसे नि:स्वार्थी लोगों का प्रेम उनके एक-एक शब्द को वज्र की भाँति प्रभावशाली बना देगा।...मुझे आशा है कि तुममें इतनी क्षमता है कि तुम इस संसार को हिला सको। सारे संसार को प्रेरणा दे सको।''[४]

स्वामीजी के त्याग, सेवा और सर्वोपरि उनके अत्युच्च आध्यात्मिक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर निवेदिता ने उन्हें गुरु के रूप में वरण कर लिया था। उनके आह्वान पर निवेदिता २८ जनवरी, १८९८ को कोलकाता पहुँचीं। निवेदिता के लिए यह दिन उनके जीवन का स्वर्णिम दिन था। स्वामीजी स्वयं उनका स्वागत करने के लिए कोलकाता बंदरगाह पर आए थे। स्वामीजी चाहते थे कि निवेदिता हिन्दू मन के द्वारा हिन्दूओं के रीति-रिवाजों को समझ सके। वे उन्हें भारतीय संस्कृति और सभ्यता, धर्म और अध्यात्म, पुराण और इतिहास सहित भारत के गौरवपूर्ण अतीत के बारे में प्रशिक्षित करने लगे तथा उन्होंने वर्तमान ब्रिटिश राज्य के अधीन शिक्षा इत्यादि क्षेत्रों में भारत के अध:पतन का दृश्य भी उनके सामने उपस्थित किया।

स्वामीजी जानते थे कि निवेदिता में पवित्रता, अथक कार्य करने की क्षमता, परदुखकातरता, साहस, कुशाग्र बुद्धि इत्यादि गुण हैं। निवेदिता ने विश्व-इतिहास, शिक्षा, धर्म, अध्यात्म इत्यादि का गहराई से अध्ययन किया था। किन्तु स्वामीजी चाहते थे कि हिन्दू नारियों की शिक्षा का कार्य आरम्भ करने के पहले वह स्वयं उनके महान चरित्र, कष्ट-सहिष्णुता, पवित्रता, सहानुभूति गुणों से परिचित हो जाए।

श्रीमाँ सारदा देवी से प्रथम दर्शन

निवेदिता के भारत में आने के लगभग डेढ़ महीने बाद उनके जीवन में एक महत्त्वपूर्ण दिवस आया। उस दिन का उल्लेख उन्होंने अपनी दैनन्दिनी में एक अति महत्त्वपूर्ण दिवस के रूप में किया है। १७ मार्च, १८९८ गुरुवार को उन्होंने संघ-जननी श्रीमाँ सारदा देवी का प्रथम दर्शन लाभ किया। स्वामीजी ने अपने शिष्य स्वामी स्वरूपानन्द को दुभाषिये के रूप में भेजा। भगिनी निवेदिता श्रीमती बुल और जोसेफिन मेक्लाउड के साथ माँ से मिलने गईं। श्रीमाँ प्रत्येक के साथ 'बेटी' कहकर मिलीं। यद्यपि वे एक-दूसरे की भाषा को समझ नहीं सकती थीं, किन्तु प्रथम मिलन में ही उनके बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया।

जब माँ ने निवेदिता से उनका नाम पूछा, तब उन्होंने कहा, ''मेरा नाम मिस मार्गरेट एलिजाबेथ नोबल है।''

तब माँ ने जो बंगला में कहा, उसे स्वामी स्वरूपानन्द ने अनुवाद कर कहा, ''मेरी बेटी, मैं इतना बड़ा नाम नहीं

२. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २.३६०,३६१
३. वही, खण्ड, ६.३६०
४. वही, खण्ड, ४.४०८

बोल पाऊँगी। मैं तुम्हें 'खूकी' (छोटी बच्ची) कहूँगी।''

माँ के आत्मीयता भरे शब्द सुनकर निवेदिता ने आनन्दपूर्वक कहा, ''हाँ, मैं माँ की छोटी बच्ची हूँ।''

जब माँ द्वारा उन सबको अल्पाहार दिया गया, तब जोसेफिन मेक्लाउड ने माँ से विनती की, ''क्या आप हमारे साथ कुछ ग्रहण नहीं करेंगी?'' माँ ने सहर्ष उनके साथ बैठकर अल्पाहार ग्रहण किया।[५]

सचमुच यह एक बहुत बड़ी क्रान्ति थी। एक आचारनिष्ठ ब्राह्मण कुल में पली-बढ़ी नारी का पाश्चात्य लोगों को स्वीकार करना और उनके साथ भोजन करना, इसे उस समय कोई सोच भी नहीं सकता था। जब स्वामी विवेकानन्द ने यह सुना, तो उनकी प्रसन्नता का पारावार न रहा। उन्होंने एक पत्र में अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द जी को लिखा, ''श्रीमाँ यहाँ हैं और यूरोपियन और अमेरिकन महिलाएँ उनसे मिलने गईं और तुम्हें आश्चर्य होगा कि श्रीमाँ ने उनके साथ भोजन किया। क्या यह घटना अभूतपूर्व नहीं?'' माँ ने एक प्रकार से सभी को यह संकेत दे दिया था कि ये पाश्चात्य भद्र महिलाएँ हिन्दू समाज में सहर्ष स्वीकृत हैं।

निवेदिता को माँ से मिलाने के पूर्व स्वामीजी थोड़े-से आशंकित थे। श्रीमाँ सारदा देवी एक आचारनिष्ठ ब्राह्मण कुल से थीं। माँ के वात्सल्य और उनके उदार हृदय के विषय में स्वामीजी को कोई शंका नहीं थी। किन्तु माँ के साथ उनके परिवार के लोग और अन्य शिष्यगण भी रहते थे। तत्कालीन समाज के रूढ़िवादी लोग विदेशी लोगों से मिलना पसन्द नहीं करते थे। उसमें भी कट्टर ब्राह्मण कुल के लोग विदेशी लोगों से तो दूर की बात, अन्य जाति के लोगों के साथ भोजन इत्यादि भी नहीं करते थे। स्वामीजी को स्वयं भी इन सामाजिक प्रचलन के कारण कुछ कटु अनुभवों से गुजरना पड़ा था। पाश्चात्य देशों में वेदान्त प्रचार के बाद स्वामीजी जब अपनी जन्मभूमि लौटे, तब उनका स्वागत तो बड़े हर्षोल्लास के साथ हुआ, किन्तु जब वे श्रीरामकृष्ण के साधना-स्थल दक्षिणेश्वर में माँ भवतारिणी के दर्शन करने गए, तो उनके मन्दिर जाने पर अनेक लोगों ने आलोचनाएँ कीं। अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण के साथ रहकर स्वामीजी को जिस पावन-स्थली दक्षिणेश्वर में अनेक आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हुईं थीं, जहाँ उन्हें माँ भवतारिणी के दर्शन हुए, वहीं उनके जाने के विषय में आलोचनाएँ होने लगीं ।

माँ से अपनी प्रथम भेंट के बारे में

माँ से मिलने के बाद निवेदिता स्वामीजी के पास गईं और कहा, ''माँ ने मुझे सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया है और उन्होंने मुझे उन्हें उनके चरण छूकर प्रणाम करने की भी अनुमति दी है। उन्होंने मुझे प्रसाद दिया और कहा मैं तुम्हें 'खूकी' कहूँगी।''[६]

निवेदिता श्रीमाँ के प्रथम दर्शन से अत्यधिक प्रभावित हुई थीं। यह उनके २२ मई को श्रीमती एरिक हेमण्ड को लिखे पत्र से ज्ञात होता है, ''वे माधुर्यस्वरूपिणी हैं। इतनी विनम्र, प्रेमपूर्ण और एक बालिका के समान प्रसन्न हैं! ...वे इतनी दयामयी हैं और मुझे 'मेरी बेटी' कहकर बुलाती हैं। वे आचार-विचार के विषय में सर्वदा ही अत्यन्त परम्परावादी थीं, किन्तु जैसे ही उन्होंने श्रीमती बुल और कुमारी मेक्लाउड को देखा, उनका वह सब कुछ लुप्त हो गया और माँ ने उनके साथ आहार भी ग्रहण किया। ...वहाँ अतिथियों को फलप्रसाद दिया जाता है। इसलिए हमने भी माँ को फल अर्पण किए और उन्हें फल ग्रहण करते देख सभी लोग विस्मित हो गए। हम सभी भी स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करने लगे। इसने मेरे भावी कार्य को जिस प्रकार सम्भव बना दिया, उतना और किसी भी उपाय से नहीं होता।

''उनके प्रति संन्यासियों की श्रद्धा वीरोचित है । उन्हें सर्वदा 'माँ' के रूप में सम्बोधित किया जाता है । उनका उल्लेख करते समय कहा जाता है – 'माता ठकुरानी', किसी भी संकट या समस्या के समय उन्हीं से पूछने की बात सर्वप्रथम मन में उठती है; उनकी सेवा में हमेशा दो-एक संन्यासी उपस्थित रहा करते हैं; उनकी किसी भी इच्छा को सर्वोच्च आदेश के समान माना जाता है । वस्तुत: यह दर्शनीय अद्भुत सम्बन्ध है ! एक दिन एक संन्यासी ने मेरी ओर से उन्हें 'Magnificat' (ईसा-जननी मैरी का गीत) का बँगला अनुवाद पढ़कर सुनाया । वह दृश्य देखने के योग्य था । (मुझे प्रतीत हुआ था कि) वे अत्यन्त अनाडम्बर सहजतम परिधान में एक परम शक्तिमयी महीयसी नारी हैं ।''[७]

माँ और निवेदिता के बीच सचमुच एक मधुर सम्बन्ध स्थापित हो गया था । बड़ा आश्चर्य होता है कि माँ बंगाल के

५. श्रीसारदा देवी एण्ड हर डिवाइन प्ले, स्वा. चेतनानन्द, पृ. २१७

६. वही

७. माँ की मधुर स्मृतियाँ, सं. स्वामी विदेहात्मानन्द, पृ. १२९-१३०

एक गाँव की रहने वाली एक साधारण नारी और निवेदिता पाश्चात्य संस्कृति में लालित-पालित अत्यन्त विदुषी महिला। किन्तु दोनों के बीच एक दैवी आकर्षण था। निवेदिता माँ को साक्षात् देवी समझती थीं। निवेदिता ने माँ से मिलने के पूर्व ही माँ के देवीत्व के बारे में सुना था। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि निवेदिता के गुरु स्वामी विवेकानन्द थे और स्वामी विवेकानन्द के लिए माँ स्वयं जगदम्बा थीं। स्वामीजी की माँ के प्रति कितनी प्रगाढ़ भक्ति थी और माँ के प्रति वे कितने कट्टर थे, इसका उल्लेख एक पत्र में प्राप्त होता है, ''रामकृष्ण परमहंस भले ही न रहें, मुझे भय नहीं हैं। माँ के न रहने से सब समाप्त हो जाएगा। शक्ति की कृपा के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। ''

निवेदिता का माँ के साथ रहना और उनकी सेवा

माँ से बंगला में बात करने के लिए निवेदिता ने स्वामी स्वरूपानन्द से बंगाली भाषा सीखना शुरू किया। स्वामी योगानन्द के पास भी वे बंगाली भाषा सीखने जाती थीं। माँ के साथ अन्य महिलाएँ भी रहती थीं और वे खान-पान एवं आचार के बारे में कट्टर थीं। किन्तु माँ का निवेदिता के प्रति इतना प्रेम था कि उन्होंने किसी की भी परवाह न करते हुए उन्हें अपने साथ १०/२ बोसपारा लेन वाले घर में साथ में रहने दिया। निवेदिता माँ के साथ ही वहाँ भोजन करती थीं। श्रीरामकृष्ण देव की भक्त गोपाल-माँ उस समय माँ के साथ रहती थीं और उन्हें पहले यह अच्छा नहीं लगता था, किन्तु निवेदिता पर उनका प्रेम बढ़ता गया । वे उन्हें 'नरेन की पुत्री' कहा करती थीं। श्रीमाँ सारदा देवी भी निवेदिता को वहाँ के आचार-व्यवहार सिखातीं और उन्हें नारी-शिक्षा इत्यादि में भी कार्य करने का प्रोत्साहन देती थीं।

स्वामी विवेकानन्द के कहने पर निवेदिता ने १६ बोसपारा लेन में अपना निवास स्थानान्तरित किया, जो माँ के घर के पास में था। निवेदिता अपना बहुत-सा समय माँ के साथ बिताती थीं। गरमी के दिनों में माँ ने उन्हें कहा था कि वे रात को सोने के लिए उनके यहाँ आ जाए। निवेदिता भी माँ के घर की अन्य महिलाओं के साथ एक ही कमरे में फर्श पर सोती थीं। निवेदिता स्वयं को एक हिन्दू नारी के रूप मे ढालना चाहती थीं। इतनी गरमी में भी वे प्रसन्नतापूर्वक गाँव की स्त्रियों के साथ मिल-जुलकर रहती थीं। स्वामीजी ने निवेदिता को भारत आने के पूर्व पत्र लिखकर कहा था, ''यहाँ भयंकर गर्मी पड़ती है; हमारा शीतकाल अधिकांश स्थानों में तुम्हारी गर्मी के समान होता है और दक्षिण में तो हमेशा आग बरसती रहती है। नगरों के बाहर कोई भी यूरोपीय सुख-सुविधाएँ पाने की कोई सम्भावना नहीं है। इन सब के बावजूद यदि तुम इस कार्य में उतरने का साहस करोगी, तो तुम्हारा स्वागत है, सौ बार स्वागत है।''[८] सचमुच इन कठिन परिस्थितियों में निवेदिता का भारत की इन तप:पूत नारियों के साथ रहना एक प्रेमपूर्ण साहस था।

निवेदिता शीघ्र ही माँ के साथ रहने वाली महिलाओं के साथ घुल-मिल गई थीं। वहाँ सबका एक-दूसरे के साथ मनोरंजन भी होता था। एकबार श्रीरामकृष्ण देव की भतीजी लक्ष्मी दीदी जगद्धात्री का अभिनय कर रही थीं, तब निवेदिता ने उनका वाहन शेर का अभिनय किया था। निवेदिता शेर के समान गर्जना करते हुए कमरों के चक्कर लगाने लगीं।[९] इसे देखकर माँ और अन्य महिलाओं को भी आनन्द हुआ। माँ को थोड़ा-सा भी प्रसन्न करना अथवा उनकी सेवा करना, निवेदिता के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि थी। लगभग प्रतिदिन वे माँ को प्रणाम करने के लिए जातीं। प्रत्येक रविवार को वे माँ का बिस्तर झाड़तीं, उनका कमरा झाड़ू लगाकर साफ करतीं और दरवाजे-खिड़कियों को पोंछतीं।

निवेदिता द्वारा माँ की दिनचर्या का सजीव चित्रण

''माँ के निवास के दिन शान्ति और माधुर्य से परिपूर्ण रहते । ब्राह्म मुहूर्त में सभी लोग एक-एक कर चुपचाप उठ जाते; फिर बिस्तर की चटाई के ऊपर से चादर और तकिया हटाकर, उस पर स्थिर होकर बैठ जाते, मुख दीवार की ओर होता और हाथ में जप की माला घूमती रहती थी । उसके बाद कमरे की सफाई तथा स्नान का समय होता । विशेष पर्व के दिन माँ अपनी किसी संगिनी के साथ पालकी में बैठकर गंगा-स्नान को जाती थीं । उसके पूर्व तक वे रामायण पढ़तीं । उसके बाद माँ अपने कमरे में पूजा करने बैठती थीं । कम आयु की महिलाएँ दीप जलातीं; धूप-धूना देतीं; गंगाजल, फूल तथा पूजन-सामग्री की व्यवस्था करती थीं । उसी समय यहाँ तक कि गोपाल-की-माँ भी आकर नैवेद्य तैयार करने में मदद करती थीं । इसके बाद दोपहर के भोजन तथा अपराह्न के विश्राम का समय होता । संध्या होते ही सेविका लालटेन जलाकर हम लोगों के वार्तालाप के बीच में आकर खड़ी हो जातीं; सब लोग उठ जाते; हम

८. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २.३६०,३६१

९. सिस्टर निवेदिता, प्र. आत्मप्राणा, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ. ८८

लोग पट या विग्रह के सामने साष्टांग होकर प्रणाम करते; गोपाल-की-माँ और श्रीमाँ की पदधूलि लेते थे; या फिर आज्ञाकारी बालिका के समान माँ के साथ छत पर जाते थे अथवा जहाँ तुलसी-पौधे के नीचे दीप जलाया गया था, वहीं जाकर बैठते थे । जिसे भी संध्या-ध्यान के समय माँ के पास बैठने की अनुमति मिल जाती, उसे बड़ा भाग्यशाली माना जाता – माँ की सभी पूजाओं के आरम्भ तथा अन्त में जो गुरु-प्रणाम होता – उस प्रणाम को करना वह स्वयं माँ से सीखती थी ।[१०]

माँ के विषय में निवेदिता के भक्तिपूर्ण उद्गार

निवेदिता की माँ के प्रति कितनी असीम और प्रगाढ़ भक्ति थी, इसका उल्लेख उनके एक पत्र में मिलता है, "इस छोटे-से पारिवारिक समुदाय में श्रेष्ठ स्थान निस्सन्देह माँ सारदा का ही था। उनकी केवल उपस्थिति ही वहाँ के वातावरण को पवित्र बना देती थी। वहाँ रहने वाले लोगों को स्वर्गीय सुख का अनुभव होता।... मुझे सर्वदा ही लगता है कि वे भारतीय नारी के आदर्श के विषय में श्रीरामकृष्ण की चरम वाणी हैं । लेकिन क्या वे प्राचीन आदर्श की अन्तिम प्रतिनिधि हैं, या फिर नये आदर्श की अग्रदूत? उन्हें देखकर ही समझा जा सकता है कि प्रज्ञा तथा माधुर्य के समन्वय से किस प्रकार एक अत्यन्त सहज सरल नारी का जीवन भी जीया जा सकता है । पर उसी के साथ, मुझे उनकी अध्यात्म-महिमा के समान ही, उनके सम्भ्रान्त सौजन्य का सौन्दर्य तथा उनके विशाल मुक्त मन की महिमा भी अपूर्व प्रतीत हुई । चाहे जितनी भी नयी या जटिल समस्या उनके सामने रखी जाती, मैंने कभी उन्हें उदार तथा महान् निर्णय व्यक्त करने से हिचकते नहीं देखा । उनका समग्र जीवन एक सतत प्रार्थना के समान है । ब्राह्मण-शासित समाज में उनका समग्र जीवन बीता है, तथापि प्रत्येक क्षेत्र में वे स्वयं को परिवेश या आसपास के वातारवण से ऊपर उठा लेती हैं । यदि कोई अपने अनुचित आचरण से उन्हें आघात पहुँचाता है, तो उनमें एक अद्‌भुत शान्त स्थिरता तथा प्रगाढ़ स्तब्धता छा जाती है – और यही उनकी प्रतिक्रिया का एकमात्र लक्षण होता है । यदि कोई अपने बाह्य सामाजिक समस्या या उत्पीड़न-कष्ट की बात बताता है, तो वे तत्क्षण अभ्रान्त अन्तर्दृष्टि से घटना के मर्म में जाकर सम्बद्ध व्यक्ति को समाधान का पथ दिखा देती हैं । और जब कभी कठोरता की जरूरत होती है? तब वे किसी प्रकार की बुद्धिहीन भावुकता से विचलित नहीं होतीं ।"[११]

माँ आप काली हैं !

एकबार निवेदिता और कुमारी क्रिस्टीन माँ से मिलने गईं। निवेदिता ने माँ से बंगाली में कहा, "माँ, आप हमारे लिए माँ काली हैं।" क्रिस्टीन ने भी कहा, "हाँ, माँ हमारे लिए आप काली माँ हैं।" तब माँ ने भी हँसते हुए कहा, "नहीं, मेरी बेटियो! मैं काली अथवा ऐसा कुछ नहीं हो सकती, तब मुझे भी अपनी जीभ बाहर निकालनी पड़ेगी!" जब उन दोनों को इसका अनुवाद करके बताया गया, तब उन्होंने भी हँसते हुए कहा, "नहीं आपको ऐसा कुछ नहीं करना होगा। हम आपको माँ काली और श्रीरामकृष्ण देव को शिव के रूप में मानेंगीं।" तब माँ ने कहा, "अच्छा, वैसा हो सकता है।"

निवेदिता ने एकबार माँ से कहा था, "माँ, हम पिछले जन्म में हिन्दू थे। हमारा विदेश में इसलिए जन्म हुआ, ताकि हमारे द्वारा ठाकुर का सन्देश वहाँ प्रचारित हो सके।"[१२]

निवेदिता का क्या सरल विश्वास है !

माँ ने एकबार निवेदिता के बारे में कहा था, "उसका बाह्य वर्ण भी श्वेत है और भीतर भी श्वेत – पवित्र है।"[१३] प्रव्राजिका भारतीप्राणा माताजी तब निवेदिता कन्या पाठशाला में विद्यार्थिनी थीं। वे अपने संस्मरणों में लिखती हैं, "उन दिनों श्रीमाँ जिस घर में रहती थीं, वहाँ मैंने भगिनी निवेदिता को दीर्घ समय तक तन्मय और मुग्ध बैठे अनेकों बार देखा है। श्रीमाँ को साष्टांग प्रणाम करते समय उनका मुखमण्डल एक अवर्णनीय आनन्द से ओत-प्रोत हो जाता, जिस प्रकार एक शिशु अपनी माँ के पास आनन्द एवं सन्तोष के साथ खेलता है। एक बार श्रीमाँ ने ताड़ के पत्ते का एक छोटा-सा पंखा निवेदिता को उपहार में दिया। उसके चारों ओर माँ ने स्वयं ऊनी झालर सिली थी। माँ के हाथ से पंखा लेकर निवेदिता आत्मविभोर हो गईं और उसे अपने मस्तक एवं हृदय से बार-बार लगाते हुए कहने लगीं, 'इसे माँ ने बनाया है, इसे माँ ने मुझे दिया है।' वहाँ जो भी उपस्थित थे, उन सबके मस्तक भी निवेदिता ने उस पंखे से छुए। मुझे भी उस पंखे से छुआ। उनके आनन्द को देख श्रीमाँ ने कहा,

१०. माँ की मधुर स्मृतियाँ, सं. स्वामी विदेहात्मानन्द, पृ. १३६-१३७

११. वही, पृ. १३४-१३५

१२. श्रीसारदा देवी एण्ड हर डिवाइन प्ले, स्वा. चेतनानन्द, पृ. २२०

१३. वही, पृ. २२१

'एक साधारण-सी वस्तु पाकर उसका आनन्द देख रही हो !

अहा, क्या सरल विश्वास है! मानो साक्षात देवी हो ! नरेन (स्वामीजी) के प्रति कितनी भक्ति है ! नरेन ने इसी देश में जन्म लिया, इसलिए वह सब कुछ त्याग कर यहाँ आकर मन-प्राण से उसका काम कर रही है। कैसी गुरुभक्ति है ! और इस देश के प्रति उसका कैसा प्रेम है !' ''[१४]

निवेदिता की कन्या पाठशाला

१३ नवम्बर, १८९८ कालीपूजा का दिन निवेदिता के लिए महत्त्वपूर्ण दिवस था। जिस कार्य के लिए उनका भारत में आगमन हुआ था, उसका औपचारिक रूप से आज मंगलारंभ होने वाला था। यह निवेदिता की कन्या पाठशाला के उद्घाटन का दिवस था। माँ ने स्वयं १६ बोसपारा स्थित निवेदिता के इस स्कूल का अपने शुभहस्तों से पूजा कर उद्घाटन किया। इस अवसर पर स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी सारदानन्द एवं अन्य भक्त भी उपस्थित थे। माँ ने आशीर्वाद दिया था, ''माँ काली का आशीर्वाद इस स्कूल को सैदव प्राप्त होता रहे और इस पाठशाला से पढ़ी हुईं कन्याएँ आदर्श नारी के रूप में नारी-समाज का नाम उज्ज्वल करें।''

निवेदिता माँ के इस आशीर्वाद से इतनी प्रसन्न हो गई कि उन्होंने बाद में लिखा था, ''भावी शिक्षित स्त्रियों के सम्बन्ध में तथा उनके कल्याण हेतु जो आशीर्वादात्मक वचन श्रीमाँ के मुख से नि:सृत हुए हैं, उनसे अधिक श्रेष्ठ और बहुमूल्य शब्दों की तो मैं कल्पना ही नहीं कर सकती।''[१५]

प्रव्राजिका भारतीप्राणा माताजी अपने संस्मरणों में लिखती हैं, ''एकबार सिस्टर निवेदिता ने हमलोगों से कहा, 'माँ आज हमलोगों के स्कूल में आएँगी। तुम सब लोग खूब आनन्द मनाओ।' सुबह के बदले चार बजे माँ की गाड़ी आई। साथ में राधू, गोलाप-माँ आदि थीं। माँ के गाड़ी से उतरते ही निवेदिता ने उन्हें साष्टांग प्रणाम कर पूजा कक्ष के बरामदे में बैठाया। माँ के चरणों में पुष्पांजलि देने के लिए हमलोगों के हाथ में उन्होंने फूल दिए। लड़कियों के पुष्पांजलि देकर आंगन में खड़ी होने पर निवेदिता ने एक-एक कर सभी का परिचय दिया। माँ ने लड़कियों से गाना गाने को कहा। लड़कियों ने गाना गाया और एक कविता सुनाई। सुनकर माँ ने कहा, 'सुन्दर कविता है।' तत्पश्चात् मिठाई का प्रसाद बनाकर हमलोगों को देने को कहा। कुछ देर पश्चात् सिस्टर निवेदिता माँ को लेकर सभी कमरे और लड़कियों के हाथ के काम दिखाने लगीं। माँ ने देखा और आनन्द प्रकट करते हुए कहा, 'लड़कियों ने अच्छा सीखा है।' बाद में माँ को विश्राम के लिए सिस्टर अपने कमरे में ले गईं।[१६]

''निवेदिता शिशु के समान श्रीमाँ के चरणों में बैठी थीं। उन्हें देखकर ऐसा नहीं लगता था कि वे एक असाधारण बुद्धिमती, प्रखर व्यक्तित्वशालिनी व महान जननेत्री थीं।''

निवेदिता द्वारा माँ को दिए गए अमूल्य उपहार

निवेदिता की आर्थिक अवस्था ठीक नहीं थी। वे माँ को उनके दैनन्दिन जीवन में व्यवहार में आने वाली बहुत-सी वस्तुएँ उपहार देना चाहती थीं। यथासम्भव वे माँ को छोटी-सी भेंट अर्पण करती थीं। एकबार वे श्रीमाँ के लिए छोटी जर्मन सिल्वर की डिबिया लाई थीं। श्रीमाँ ने उस डिबिया में श्रीरामकृष्ण देव के केश रखे थे। माँ ने कहा, ''मैं जब भी इसकी पूजा करूँगी, ठाकुर के साथ-साथ निवेदिता भी मुझे याद आएगी।'[१७] माँ निवेदिता द्वारा अर्पित छोटी-छोटी वस्तुओं को भी बहुमूल्य समझती थीं। वस्तु का मूल्य कम-अधिक कुछ भी हो सकता है, किन्तु जब उसमें श्रद्धा का भाव मिल जाता है, तब वह वस्तु अमूल्य हो जाती है।

निवेदिता ने माँ को एकबार एक दुपट्टा दिया। माँ ने बड़ी सावधानी से उसे अपनी पेटी में रखा था। इस सामान्य-सी वस्तु के प्रति भी माँ का ऐसा भाव था कि उसके फट जाने पर भी माँ ने उसे पेटी में रहने दिया। यदि कोई कहता कि यह फट-सा गया है, इसे अब फेंक देना चाहिए, तो माँ कहतीं, ''नहीं, नहीं, इसे फेंको मत। निवेदिता ने बड़े

१४. प्रव्राजिका भारतीप्राणा, रामकृष्ण सारदा मिशन, पृ. १३२; माँ की बातें, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ. ३७७

१५. सिस्टर निवेदिता, प्र. आत्मप्राणा, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ. ९८

१६. माँ की बातें (सरलाबाला देवी), रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ. ३७७, ३७८, प्रव्राजिका भारतीप्राणा, रामकृष्ण सारदा मिशन, पृ. १३२

१७. सिस्टर निवेदिता, प्र. आत्मप्राणा, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ. १३३

प्रेम से मुझे यह दिया है। जब भी मैं इसे देखती हूँ, मुझे निवेदिता की याद आ जाती है। कितनी अच्छी और गुणी लड़की है वह, अद्भुत अलौकिक-सी। पहले तो उसे बंगाली नहीं आती थी, पर शीघ्र ही उसने सीख ली।''[१८]

निवेदिता द्वारा माँ को ईसामसीह के बारे में सुनाना

हमलोग भगवान श्रीरामकृष्ण देव के बारे में ऐसा कहते हैं कि उन्होंने सभी धर्मों की साधना की थी और वे समन्वयाचार्य थे। श्रीमाँ का भी अन्य धर्म और उनके अनुयाइयों के प्रति उदार दृष्टिकोण था। निवेदिता ने माँ के इस उदार दृष्टिकोण को हृदयंगम किया था। वे लिखती हैं, ''कुछ दिनों पूर्व जब ईस्टर-दिवस पर माँ ने हमारे आवास पर आकर दर्शन दिया, तभी हमें उनकी इस क्षमता का पूरा परिचय मिला । इसके पूर्व उनका संग करते समय मैं उनकी भावधारा के चिन्तन में इतनी मग्न रहती थी कि इसके विपरीत भूमिका में उनकी ओर ध्यान देने की बात मेरे मन में आयी ही नहीं । इस विशेष अवसर पर माँ और उनकी संगिनियों ने पूरे मकान को घूमकर देखने के बाद, प्रार्थना-कक्ष में बैठकर ईसाई धर्मानुष्ठान का तात्पर्य सुनने की इच्छा प्रगट की । तब हमारे छोटे-से फ्रांसीसी आर्गन पर ईस्टर का गीत बजाया गया । ईसा के पुनरुत्थान का स्तोत्र माँ के लिए अपरिचित तथा विदेशी था, तथापि जिस प्रकार शीघ्रतापूर्वक उसका मर्म समझकर उन्होंने उसके साथ गहन भावात्मीयता दिखाई, उसीसे हम लोगों के समक्ष सर्वप्रथम असन्दिग्ध रूप से श्री सारदादेवी की विराट् धर्म-संस्कृति का एक अन्य पक्ष उद्घाटित हुआ । श्रीरामकृष्ण के संस्पर्श में आकर धन्य हुई माँ की संगिनियों में भी यही क्षमता अल्पाधिक देखने में आती है । पर सारदादेवी में उसका बोध तथा शक्ति असीम है – वह एक उच्च शिक्षा की सुनिश्चित फलश्रुति है ।

''एक अन्य दिन संध्या के समय मैंने माँ में इसी गुण का विकास देखा था । उस समय मैं अपनी छोटी-सी मण्डली में बैठी थी । माँ ने मुझे तथा मेरी गुरुभगिनी को यूरोपीय विवाह-पद्धति का वर्णन करने को कहा । भरपूर हँसी के बीच हम दोनों ने कभी 'ईसाई पुरोहित', तो कभी वर या कभी वधू के रूप में सजकर उनके आदेश का पालन किया । लेकिन विवाह की प्रतिज्ञा सुनकर उनके मन में जिस भाव का उदय हुआ, उसके लिए हम लोगों में से कोई भी तैयार नहीं था । 'सुख-दुख में, सम्पत्ति-विपत्ति में, शक्ति-अशक्ति में जब तक मृत्यु हमें अलग न कर दे' – यह उक्ति सुनते ही सभी लोग आनन्द से 'अहा-अहा' कह उठे । परन्तु इस पर माँ की परितृप्ति ही सबसे अधिक थी । उनके निर्देश पर यह उक्ति उन्हें कई बार सुनानी पड़ी । उन्होंने बारम्बार कहा, ''अहा, कैसी अपूर्व धर्म की बात है !''[१९]

एकबार श्रीमाँ विश्राम कर रही थीं और अनेक महिला-भक्त उनके पास बैठी हुई थीं। तब निवेदिता के देहान्त हुए कुछ ही महीने हुए थे। एक ने ईसामसीह के जीवन के विषय में बोलना शुरू किया। माँ उठ गईं और हाथ जोड़कर उन्होंने प्रभु ईसा को प्रणाम किया। वे कहने लगीं, ''मैंने निवेदिता से ईसामसीह के बारे में बहुत कुछ सुना था। उनकी बहुत-सी कहानियाँ उसने मुझे सुनाई थीं। अहा! ईसा लोगों को इस संसार से मुक्त करने आए थे और उन्हें कितनी यातनाएँ सहन करनी पड़ीं। उन्होंने सब कुछ हँसते हुए सहा। इतने अत्याचार सहने के बावजूद भी उन्होंने लोगों से प्रेम किया और क्षमादान किया। उनके स्वयं के शिष्य ने उनसे विश्वासघात किया। अहा ! उन्होंने ईसा के हाथ, पैर और छाती पर कीलें ठोककर उनको मार दिया। इतनी घोर यातना और व्यथा के बावजूद भी ईसा ने उनको उदार हृदय से क्षमा किया। उन्होंने भगवान से उनके अपराध क्षमा करने की प्रार्थना की। क्या मनुष्य के लिए ऐसा प्रेम, क्षमाशीलता और सहनशीलता सम्भव है? ईश्वर के सिवाय इतना और कौन सहन कर सकता है? लोगों को दिव्य प्रेम की शिक्षा देने के लिए भगवान ईसा के रूप में आए थे।'' [२०]

श्रीरामकृष्ण-श्रीमाँ-स्वामीजी के प्रति निवेदिता की भावना

निवेदिता लिखती हैं, ''माँ ने (मुझसे) कहा था और स्वामीजी के बारे में मुझे जो कल्पना करनी अच्छी लगती है, श्रीरामकृष्ण ने ठीक वही बात स्वामीजी के बारे में उनसे कही थी – स्वामीजी राष्ट्रीय देवता (शिव) के साक्षात् अवतार हैं और वे (श्रीरामकृष्ण) काली के अवतार हैं ।''[२१]

''अपूर्व ! माँ सचमुच ही अपूर्व हैं ! वे दोषरहित और पूर्ण हैं ! एक दिन मैंने माँ से कहा – 'माँ, श्रीरामकृष्ण ने जो कहा था कि एक दिन तुम्हारे असंख्य पुत्र होंगे, वह दिन तो लगभग आ गया है, सारा देश ही तुम्हारा हो चुका है ।' वे बोलीं – ''ऐसा ही तो देख रही हूँ ।''

१८. वही

१९. माँ की मधुर स्मृतियाँ, पृ. १३६

२०. मायेर पदप्रान्ते, सं. स्वामी पूर्णात्मानन्द, उद्बोधन, पृ. ३.६८७

२१. माँ की मधुर स्मृतियाँ, सं. स्वामी विदेहात्मानन्द, पृ. १३८

माँ की अलौकिक मातृशक्ति के बारे में निवेदिता ने एक घटना स्वामी सदानन्द से सुनी थी, वे लिखती हैं, ''सदानन्द से मैंने एक मरणासन्न बालक की बात सुनी थी । माँ ने उसे गंगा के किनारे ले जाने का निर्देश दिया था । लड़के ने पूछा – ''तो क्या मैं मरने जा रहा हूँ?'' वे लोग उसे 'माँ का आदेश' – कहकर टाल गये । लड़के ने तत्काल कहा – 'निश्चय ही । माँ को मेरा प्रणाम । उनकी आज्ञा तो माननी ही होगी । आप लोग मुझे ले चलिए ।' तब वे लोग उसके बिस्तर को बाहर लाये । माँ अपने छज्जे पर खड़ी होकर उसकी ओर देखती रहीं । स्वामी त्रिगुणातीत उसके पूरे शरीर में गंगा की मिट्टी लगाने से पहले श्रीरामकृष्ण, उसके बाद कृष्ण तथा अन्य देवताओं के नाम लिखने लगे । लड़के ने यह सब लिखते देखकर कहा – ''यह सब नाम मिटाकर एक ही नाम रखो – मैं वही नाम (सारदा)लेकर इतने दिन जीवित रहा – मरते समय वही नाम लेकर जाऊँगा । जब ऐसा किया गया, तब उसने भी विदा लेने के लिए माँ की ओर देखा । उसके बाद लोग उसे ले गये । और जाते समय सारे रास्ते वह आनन्दपूर्वक बातें करता रहा । परन्तु गंगातट पर पहुँचते ही उसकी मृत्यु हो गयी ।''[२२]

एकबार निवेदिता माँ के घर उनसे मिलने गईं। वहाँ जाते ही उन्होंने देखा कि एक कुत्ता सीढ़ी पर सोया हुआ है। निवेदिता कुत्ते को महाभक्त सम्बोधन कर उससे प्रार्थना करने लगीं, ''हे भक्तवर, मैं जगन्माता को प्रणाम करने जा रही हूँ। आप मेरा रास्ता रोके हुए हैं। कृपया मेरे रास्ते से हट जाएँ।'' वे बोलने लगीं, ''यह कुत्ता महाभक्त है। पूर्वजन्म में इसने पुण्यकर्म किए होंगे, किन्तु कुछ कारणों से इसका कुत्ते के रूप में जन्म हुआ है। इस सीढ़ी पर अनेक भक्तों की पदधूलि है और इसके अलावा माँ की भी चरणरज यहाँ है। इसीलिए इस कुत्ते ने यहाँ आश्रय लिया है और यह महापुण्यस्थान छोड़ना नहीं चाहता। '' उस समय ब्रह्मचारी तेजनारायण (स्वामी शर्वानन्द) ने आकर कहा, ''भगिनी, आप जो कहती हैं, वह ठीक है। वह यहाँ से हटेगा नहीं। आप उसके एक ओर होकर आगे चले जाइए।'' इसके बाद निवेदिता उसके एक ओर जाकर माँ के कमरे में गईं और उनको प्रणाम किया।[२३]

२२. वही

२३. माताजी श्रीसारदादेवी आणि भगिनी निवेदिता (मराठी लेख), स्वामी तन्निष्ठानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर

माँ के बारे में निवेदिता ने एकबार लिखा था, ''माँ के समान प्रेमपूर्ण मुख मैंने कहीं नहीं देखा है । गाँव में रहने पर वे दुबली तथा साँवली हो जाती हैं । (रोग से) शरीर बिल्कुल दुर्बल हो जाता है । परन्तु उनके कोलकाता लौटने पर देखती कि वे वही व्यक्तित्व हैं, वही पहले के समान स्वच्छ बुद्धि, उन्नत मर्यादा, नारीत्व की महिमा, सब यथावत है। उन्हें कितने प्रकार से सुख से रखने की मेरी इच्छा होती है ! एक नरम तकिया, सामान रखने का एक ताक, एक कम्बल और भी क्या-क्या चाहिये ! माँ ने हाल ही के अपने एक दर्शन के बारे में (मुझे) बताया – उन्होंने मुझे गेरुए वस्त्र में देखा है ।''[२४]

माँ और निवेदिता के बीच पत्राचार

१९०० में निवेदिता भारत में स्कूल और नारी-आश्रम के लिए आर्थिक सहायता प्राप्त करने के लिए अमेरिका गई थीं। तब माँ ने उनके नाम एक सुन्दर पत्र लिखा था।

माँ का निवेदिता को लिखा पत्र

प्रिय बेटी, शुभाशीर्वाद !

प्रिय बेटी निवेदिता, तुम मेरा स्नेह स्वीकार करना। यह जानकर मैं आनन्दित हुई हूँ कि तुमने मेरी शान्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना की है। तुम उसी सदानन्दमयी माँ की प्रतिमूर्ति हो। मेरे पास तुम्हारी जो फोटो है, उसे जब मैं देखती हूँ, तब ऐसा लगता है, मानो तुम हम लोगों के साथ में ही हो। तुम किस वर्ष, कब वापस आओगी? तुमसे मिलने के लिए व्याकुल रहती हूँ। तुम्हारे पवित्र हृदय में मेरे लिए जो प्रार्थना उठी है, वह पूरी हो जाय। मैं स्वस्थ हूँ। मैं आनन्द में हूँ। मैं भगवान से हमेशा प्रार्थना करती हूँ कि वे तुम्हारे प्रयासों में सहायक हों, तुम्हें दृढ़ एवं सुखी करें। मैं यह भी प्रार्थना करती हूँ कि तुम जल्दी ही अच्छी तरह सकुशल वापस आ जाओ । भारत में महिलाओं के आश्रम की तुम्हारी इच्छा वे पूरी करें । भविष्य में स्थापित होने वाला आश्रम सभी को सच्चे धर्म की शिक्षा देकर अपना उद्देश्य सफल करे।

जो ब्रह्माण्ड के प्राणस्वरूप हैं, वे अपनी वन्दना स्वयं ही गा रहे हैं, तुम उन सब नश्वर वस्तुओं के बीच में उस नित्य संगीत को सुन रही हो। पेड़-पौधे, पशु-पक्षी और पर्वत सभी प्रभु के स्तोत्र गा रहे हैं। यह निश्चित रूप से जान लेना कि दक्षिणेश्वर के बरगद का वृक्ष माँ काली का भजन गा रहा है; जिसके कान हैं, वे ही सुन सकते हैं।...

२४. माँ की मधुर स्मृतियाँ, सं. स्वामी विदेहात्मानन्द, पृ. १३८

मेरा स्नेह और आशीर्वाद ग्रहण करना। मैं यह प्रार्थना करती हूँ कि आध्यात्मिक जीवन में तुम्हारी उन्नति हो। सचमुच, तुम बहुत ही अच्छा कार्य कर रही हो। तुम बंगला भाषा भूल मत जाना, नहीं तो, जब तुम लौटकर आओगी, तब तुम्हारी बातें मैं समझ नहीं पाऊँगी। मैं यह जानकर अत्यन्त प्रसन्न हुई कि तुम वहाँ ध्रुव, सावित्री, सीता, राम आदि के सम्बन्ध में भाषण दे रही हो। यह सत्य है कि इन सबके पवित्र जीवन की कहानियाँ व्यर्थ सांसारिक वार्तालापों की तुलना में कहीं अधिक अच्छी हैं। प्रभु का नाम और उनकी लीला दोनों ही कितने सुन्दर हैं !

तुम्हारी,
माँ[२५]

निवेदिता का माँ को लिखा पत्र – निवेदिता श्रीमती सारा बुल के स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण, उनको देखने अमेरिका गई थीं। वे १५ नवम्बर, १९१० को बोस्टन, अमेरिका में श्रीमती बुल के पास पहुँची। वहाँ से उन्होंने श्रीमाँ को एक बहुत ही सुन्दर पत्र लिखा था, जिसमें वे माँ को साक्षात् ईसा की माँ मैरी कहकर आदर व्यक्त करती हैं।

वे कहती हैं, ''११ दिसम्बर, १९१० ई. को मैं खूब सबेरे (बीमार) सारा (श्रीमती ओली बुल) के लिए गिरजाघर में प्रार्थना करने गयी थी । उस समय गिरजाघर में सब लोग ईसा की माता मैरी का चिन्तन कर रहे थे । परन्तु मुझे तो श्रीमाँ ही मैरी माता प्रतीत हुईं । उनका सान्निध्य पवित्रता लाता है । श्रीरामकृष्ण चाहते थे कि हम सभी उन्हीं के समान बनें । लौटकर मैंने माँ को पत्र लिखा –

प्रिय माँ,

आज सबेरे मैं सारा के स्वास्थ्य-लाभ हेतु प्रार्थना करने गिरिजाघर गई। वहाँ सभी लोग माता मैरी के बारे में सोच रहे थे, सहसा मुझे तुम्हारी याद आ गयी । तुम्हारा मधुर मुखमण्डल, तुम्हारी प्रेम से परिपूर्ण आँखें, तुम्हारी सफेद साड़ी, हाथ के कंगन – सब कुछ नेत्रों के सामने झलमला उठा । उस समय मैंने सोचा – एकमात्र तुम्हारा स्पर्श ही बेचारी सारा के रोगकक्ष को शान्ति तथा आशीर्वाद से परिपूर्ण कर सकता है । मैं सोचने लगी कि संध्या को ठाकुर की पूजा के समय तुम्हारे कमरे में बैठकर ध्यान करने का मेरा प्रयास कितना मूर्खतापूर्ण था ! उस समय मैं क्यों नहीं समझ सकी कि एक छोटी बच्ची के समान तुम्हारे चरणों में बैठे रहना ही तो सब कुछ है ! माँ, तुम कितनी प्रेम से परिपूर्ण हो ! तुम्हारे प्रेम में हमारे समान उच्छ्वास या उग्रता नहीं है । वह जागतिक प्रेम नहीं है, वह तो स्निग्ध शान्ति है, जो सबका कल्याण करती है, किसी का अमंगल नहीं करती । वह स्वर्णिम आलोक से परिपूर्ण है, क्रीड़ा से परिपूर्ण है ! कई महीने पूर्व उस रविवार को, उस पुण्य दिन मैं गंगास्नान करके दौड़ती हुई क्षण भर के लिये तुम्हारे पास चली आयी थी । उस समय तुमने आशीर्वाद दिया था और मुझे तुम्हारे मधुर गृह में कितनी अद्भुत शान्ति का अनुभव हुआ था ! ओ प्रेममयी माँ, काश मैं तुम्हें एक अद्‌भुत स्तोत्र या प्रार्थना लिखकर भेज पाती ! लेकिन मैं जानती हूँ, वह तुम्हारे लिये कोलाहलपूर्ण ही होगा ! सचमुच तुम ईश्वर की अपूर्वतम सृष्टि हो, श्रीरामकृष्ण अपने निस्संग तथा असहाय

सन्तानों के लिए जो स्मृति-चिह्न छोड़ गये हैं, उस विश्वप्रेम को धारण करनेवाली तुम उनकी अपनी मंजूषा हो । सचमुच ही भगवान की सभी अपूर्व रचनाएँ नीरव हैं । वे अनजाने ही हमारे जीवन में प्रवेश करती हैं – जैसे वायु, रवि-रश्मियाँ, उद्यान के पुष्पों की सुगन्ध, गंगा की लहरें – ये सारी नीरव वस्तुएँ तुम्हारे ही समान हैं ।

''अपनी बीमारी के दुखों से लड़ती हुई सारा के लिए अपनी अपूर्व शान्ति भेजो। तुम्हारे विचारों में अपूर्व शान्ति है। यह ईश्वर प्रदत्त एक मधुर आशीर्वाद है – कमल के पत्तों के ऊपर के जलबिन्दुओं के समान, जो जल को छू भी नहीं पाते। उस असीम शान्ति का थोड़ा-सा भाग सारा के लिए अवश्य भेजना।

सदैव आपकी मूढ़ खूकी,
निवेदिता[२६]

माँ का सर्वप्रथम फोटो खिंचवाने में निवेदिता की भूमिका

आज माँ के जिस फोटो की घर-घर में पूजा होती

२५. सिस्टर निवेदिता, प्र. आत्मप्राणा, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ. ३३४

२६. माँ की मधुर स्मृतियाँ, पृ. १४२, सिस्टर निवेदिता, पृ. ३३६

है, हममें से बहुत कम लोग जानते हैं कि उस फोटो के पीछे निवेदिता और सारा बुल की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। लज्जाशीला माँ हमेशा परदे में रहती थीं और किसी भी अपरिचित व्यक्ति के सामने वे नहीं आती थीं। १८९८ ई. के नवम्बर में १०/२ नं. बोसपाड़ा लेन के मकान में माँ के प्रथम तीन फोटो खींचे गये ।

निवेदिता और श्रीमती ओली बुल ने माँ को बहुत समझा-बुझाकर तथा हठ-आग्रह करके उन्हें अंग्रेज फोटोग्राफर हैरिंग्टन के सामने बैठने को राजी किया । निवेदिता ने माँ के वस्त्र ठीक ढंग से सहेज दिये । अपनी अत्यन्त लज्जाशीलता के कारण ही माँ फोटो खिंचवाने को राजी नहीं हो रही थीं । इसके सिवा स्वामी योगानन्द के बहुत बीमार होने के कारण माँ के मन में उस समय प्रचण्ड उद्विग्नता तथा पीड़ा थी । उनके पहले चित्र में दृष्टि झुकी हुई है । वे किसी भी तरह कैमरे की ओर देखने को तैयार नहीं थीं, अत: उसे उसी अवस्था में खींचा गया । इस चित्र में उनके दाहिने पाँव की अँगुलियाँ वस्त्र से ढँकी हुई थीं । दूसरे चित्र में उनके पाँव की अँगुलियाँ थोड़ी-सी दीख पड़ती हैं । इसके लिये श्रीमती बुल को श्रेय दिया जाना चाहिये । उन्हीं के अनुरोध पर माँ यह दूसरा चित्र (जो वर्तमान में सर्वाधिक परिचित तथा सर्वत्र पूजित है) खिंचवाने को राजी हुईं । तीसरे फोटो में श्रीमाँ के साथ निवेदिता भी बैठी हैं ।[२७]

माँ के प्रथम तीनों फोटो उनकी मकान की छत पर खींचे गए थे। इन तीनों फोटो के बैकग्राउन्ड में काला परदा टंगा है। निवेदिता के साथ जो माँ का फोटो है, उसमें दीवार पूरी तरह परदे से ढकी हुई नहीं है। उन फोटों में एक लकड़ी के पलंग पर एक घने रंग की कम्बल बिछाई हुई है। उस पर आसन है और माँ उस पर बैठी हुई हैं। दो गमलों में ताड़ के पत्ते रखे हुए हैं, जो निवेदिता के साथ खींचे गए फोटो में दोनों ओर दिखाई देते हैं। पहले दोनों चित्रों में दाहिना गमला नहीं दिखता, किन्तु निवेदिता के साथ वाले फोटो में दोनों गमले दिखते हैं।[२८] इस फोटो में निवेदिता माँ को अत्यन्त भक्तिभाव से देख रही हैं और माँ भी अपनी बेटी 'खूकी' को वात्सल्य भाव से देख रही हैं।

माँ के प्रेम पर निवेदिता का पूर्ण विश्वास

निवेदिता का माँ के ऊपर कितना अडिग, निश्चल विश्वास था, यह उनकी निम्नलिखित उक्तियों से प्रकट होता है –

''माँ मानो पूर्ण विश्वास की दर्पण हैं । यदि उन्होंने किसी को एक बार स्नेह किया है, तो वह स्नेह हमेशा के लिए है – यही उनका जीवन-सत्य है ।''[२९]

''माँ अर्थात् एक उत्कंठापूर्वक प्रेम है, जो किसी को भी अस्वीकार नहीं कर सकता, एक ऐसा सान्निध्य जिससे दूर रहकर हमारा विकास नहीं हो सकता, एक ऐसा हृदय जहाँ हम सर्वदा सुरक्षित हैं, असीम माधुर्य, अटूट बन्धन, विशुद्ध पवित्रता – इन सबकी समष्टि और इससे भी अधिक श्रीमाँ का मातृत्व है।''

''माँ जब कोलकाता से अपने गाँव चली जाती हैं, तब सब कुछ शून्य प्रतीत होता है और जब वे यहाँ रहती हैं, तो मैं उनके श्रीचरण पखारने जाती हूँ । उसी ध्रुव-मन्दिर से आशीर्वाद ले आती हूँ । वे इतनी सीधी और सरल हैं, तथापि मेरी धारणा है कि वे वर्तमान विश्व की सबसे महीयसी नारी हैं ।''[३०]

निवेदिता के शरीर-त्याग पर माँ का विलाप

निवेदिता का निधन दार्जिलिंग के रे-विला में १३ अक्तूबर, १९११ को हुआ था। दार्जिलिंग जाने के पहले वे उद्बोधन, बागबाजार में माँ के घर गईं, किन्तु माँ तब जयरामवाटी में थीं। निवेदिता वहाँ स्वामी सारदानन्द, गोलाप-माँ और योगिन-माँ से मिलीं। योगिन-माँ को प्रणाम करते समय निवेदिता ने कहा, ''योगिन-माँ, मुझे लगता है कि मैं कदाचित् वहाँ से वापस लौट नहीं पाऊँगी।'' योगिन-माँ ने कहा, ''तुम ऐसा क्यों कह रही हो, निवेदिता?'' निवेदिता ने कहा, ''पता नहीं माँ, पर मुझे ऐसा लगता है कि अब अन्त निकट आ गया है।''[३१] निवेदिता के आकस्मिक निधन पर माँ को कितना दुख हुआ होगा, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। प्रव्राजिका भारतीप्राणा माताजी ने लिखा है, ''दार्जिलिंग जाने के दिन अस्वस्थ सुधीरा दीदी के पास विदा लेने जब निवेदिता आई थीं, तब मैं वहीं थीं। मुझे अच्छी तरह याद है कि उन्होने बड़े विषण्णभाव से विदा ली। इसी कारण उनकी मृत्यु का समाचार मन को वज्रपात के समान लगा था। बोसपाड़ा लेन के सभी आयु और वर्गों के नर-नारियों के हृदय में इस समाचार से जो

२७. माँ की मधुर स्मृतियाँ, पृ. १३८
२८. श्रीसारदा देवी एण्ड हर डिवाइन प्ले, पृ.७८९
२९. माँ की मधुर स्मृतियाँ, पृ. १३९
३०. वही, पृ. १४३
३१. सिस्टर निवेदिता, पृ. ३७८

हाहाकार मचा था, वह केवल परम आत्मीयों के लिए ही होता है। निवेदिता के देहान्त पर मैंने श्रीमाँ को आँसू बहाते हुए कहते सुना, 'निवेदिता यहाँ की है, उनके (श्रीरामकृष्ण के) भाव प्रसार एवं संदेश-प्रचार के लिए ही उसने उस देश में जन्म लिया था।' ''[३२]

निवेदिता की मृत्यु के कुछ समय बाद निवेदिता के स्कूल से भगिनी क्रिस्टीन और सुधीरा दीदी माँ से मिलने गईं। निवेदिता और क्रिस्टीन के बीच अच्छी मैत्री का स्मरण करते हुए, माँ सुधीरा दीदी से कहने लगीं, ''वे दोनों साथ में रहीं। अभी इसके लिए अकेली रहना कठिन हो जाएगा।'' क्रिस्टीन को सान्त्वना देते हुए माँ कहने लगीं, ''पुत्री ! हमारा हृदय उसके लिए रो रहा है और तुम्हारा दुख तो हमसे अधिक ही होगा। क्या अद्भुत थी वह! कितने लोग उसके लिए दुख व्यक्त कर रहे हैं ! '' ऐसा कहकर माँ रोने लगीं।[३३]

निवेदिता के देहान्त के बाद एकबार १५ जून, १९१२ को उद्बोधन में श्रीमाँ और अनेक महिला-भक्तों के बीच में 'निवेदिता' पुस्तक से पढ़ा जाने लगा। श्रीमाँ और अन्य उपस्थित महिलाएँ एकाग्र मन से सुनने लगीं। निवेदिता की भक्ति की बात सुनकर सबकी आँखें अश्रुसिक्त हो उठीं। माँ की आँखों से भी आँसू बहने लगे। माँ कहने लगीं, ''अहा! निवेदिता की कैसी भक्ति थी ! मेरे लिए वह क्या करे, क्या न करे, कुछ सोच नहीं पाती थी। रात में जब वह मिलने आती, तो लालटेन की रोशनी से मेरी आँखों को कष्ट होगा, सोचकर उसमें कागज लगा देती। प्रणाम करके अपने रुमाल से बड़ी सावधानी से मेरी चरण-रज लेती। मैं देखती – उसे मेरे पैरों पर हाथ लगाने में भी संकोच का अनुभव हो रहा है।'' यह सब सोचकर माँ मानो निवेदिता के बारे में सोचते हुए स्थिर-सी हो गईं। तब उपस्थित लोगों में सभी निवेदिता के बारे में जो जितना जानती थीं, कहने लगीं। एक ने कहा, 'भारत का दुर्भाग्य है कि वे इतनी शीघ्र चली गईं।' और एक अन्य ने कहा, 'वे मानो भारत की ही थीं। स्वयं भी वे यही कहा करती थीं। सरस्वती पूजा के दिन वे होम का तिलक लगाकर नंगे पैर घूमती रहती थीं।' पुस्तक का पठन समाप्त हुआ। श्रीमाँ तब भी बीच-बीच में निवेदिता के बारे में दुख-प्रकाश करने लगीं। अन्त में उन्होंने कहा, 'जानती हो बेटी, जो सत्यनिष्ठ होता है, उसके लिए अन्तरात्मा रोती है।'[३४]

माँ एकबार निवेदिता के बारे में कुछ महिला भक्तों को कह रही थीं, ''निवेदिता को ही देखो, एक पाश्चात्य लड़की ने हमारे देश में आकर अपमान और कष्टों को हँस कर सहते हुए काम किया। कितनी असुविधाओं को सहते हुए उसने हमारे बच्चों को पढ़ाया। जब वह बच्चों को स्कूल में पढ़ाने ले जाने के लिए उनके घरों में जाती थी, तो उसका अपमान किया जाता था। कुछ लोग उसे घर में घुसने तो देते थे, किन्तु बाद में गंगाजल से घर को पवित्र करते थे। वह सब कुछ देखती थी, पर कुछ बुरा नहीं मानती थी। वह प्रसन्न मुख से चली जाती थी। उसके ऊपर कोई बन्धन नहीं था कि इतना अपमान और अभद्र व्यवहार सहन करते हुए और तिल-तिल अपने जीवन का क्षय करते हुए हमारी कन्याओं को शिक्षा दे। देखो, मेरी बेटी निवेदिता का इतना सुन्दर मन है कि उसने यह दायित्व इसलिए अपने कन्धों पर लिया, क्योंकि उसका गुरु नरेन (स्वामी विवेकानन्द) ऐसा चाहता था और उसने ऐसा करने के लिए कहा था। शारीरिक कष्ट, असुविधा, अपमान और अभद्र व्यवहार की उसने कभी परवाह नहीं की। उसने जिन लोगों के लिए अपना जीवन समर्पित किया, उन्होंने ही उसके साथ तिरस्कारपूर्वक व्यवहार किया। क्या हमारे देश की नारियाँ इन परिस्थितियों में अपने गुरु के लिए इतना महान त्याग कर सकती थीं? उन्होंने कहा होता, 'हमें क्या पड़ी है।' इसलिए मैं कहती हूँ कि ठाकुर के सिवाय कोई नहीं जानता कि वे कैसे, किससे, कब और क्या कार्य कराएँगे।''[३५]

निवेदिता स्वामी विवेकानन्द की 'मानसकन्या' थीं। निवेदिता-स्कूल की छात्राओं के लिए वे 'सिस्टर' थीं, उनके ऊपर असीम श्रद्धा व्यक्त करने वालों ने उन्हें 'लोकमाता' कहा। किन्तु श्रीमाँ सारदा देवी की वे स्नेहभाजना बेटी 'खूकी' थीं। निवेदिता का नाम भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के अनेक नेता, साहित्यकार, कलाकार और पाश्चात्य देशों के विद्वानों के बीच भी एक अत्यन्त विदुषी और साहसिक महिला के रूप में प्रसिद्ध था। निवेदिता का व्यक्तित्व भी वैसा ही था। किन्तु वे जब भी माँ के समान उपस्थित होतीं, तब एक अबोध, मूढ़ बालिका के समान हो जाती थीं। तब उनका एक ही उद्देश्य रह जाता कि किस प्रकार माँ की सेवा की जाए और माँ के ममता रूपी अमृत का पान किया जाए। ऐसी भारत की निवेदिता और माँ की 'खूकी' को कोटि-कोटि वन्दन। OOO

३२. प्रव्राजिका भारतीप्राणा, पृ. १३३

३३. श्रीसारदा देवी एण्ड हर डिवाइन प्ले, पृ.२२३

३४. माँ की बातें, पृ. २०५

३५. मायेर पदप्रान्ते, पृ. ३.६७८

लोकमाता निवेदिता

रवीन्द्रनाथ टैगोर

(दिनांक १३ अक्तूबर १९१३ ई. को भगिनी निवेदिता का देहावसान हो जाने के बाद विख्यात वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बोस के अनुरोध पर विश्वकवि ने अपनी आन्तरिक श्रद्धांजलि के रूप में बँगला भाषा में यह लेख लिखा था, जो 'प्रवासी' मासिक में प्रकाशित हुआ। इसमें उनके कुछ व्यक्तिगत संस्मरण भी निबद्ध हैं। हम बँगला 'रवीन्द्र-रचनावली' के तेरहवें खण्ड से 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिये स्वामी विदेहात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ उस लेख का अविकल अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। सं.)

भगिनी निवेदिता के साथ जब मेरी पहली बार मुलाकात हुई, वे उसके थोड़े दिनों पूर्व ही भारत में आयी थीं। मैंने सोचा था कि जैसा सामान्य अँग्रेज मिशनरी महिलाएँ हुआ करती हैं, वे भी वैसी ही होंगी, केवल इनका सम्प्रदाय भर अलग होगा।
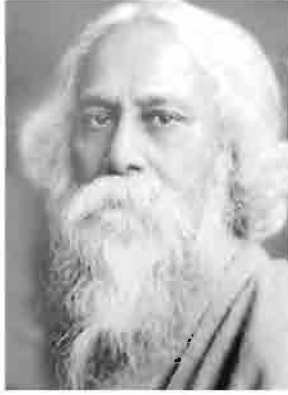
रवीन्द्रनाथ टैगोर

मन में ऐसी धारणा होने के कारण ही मैंने उनसे अपनी पुत्री की शिक्षा का भार ग्रहण करने का अनुरोध किया था। उन्होंने मुझसे पूछा, "आप कैसी शिक्षा देना चाहते हैं?" मैं बोला, "अँग्रेजी, और वैसी ही शिक्षा, जो सामान्यत: अँग्रेजी भाषा के माध्यम से दी जाती है।" उन्होंने कहा, "बाहर से कोई एक शिक्षा पिला देने से क्या लाभ? राष्ट्रगत निपुणता और व्यक्तिगत विशेषता के रूप में मनुष्य के भीतर जो क्षमता विद्यमान है, उसे जाग्रत कर डालने को ही मैं सच्ची शिक्षा मानती हूँ। नियमबद्ध विदेशी शिक्षा के द्वारा उसे दबा डालना मुझे उचित नहीं प्रतीत होता।"

कुल मिलाकर, उनके इस विचार से मेरा कोई मतभेद नहीं था, परन्तु शिशु की स्वकीय शक्ति तथा वंशगत प्रेरणा को, उसके चित्त के अंकुरण की अवस्था में ही ठीक-ठीक कैसे आविष्कार किया जाय; और उसे इस प्रकार जाग्रत किया जाय, ताकि उसके अपने सूक्ष्म वैशिष्ट्य का सार्वभौमिक शिक्षा के साथ व्यापक रूप में सामंजस्य हो जाय – इसका उपाय मुझे तो मालूम नहीं था। सम्भव है कि कोई असाधारण प्रतिभासम्पन्न गुरु यह कार्य अपनी सहज प्रेरणा से कर भी लें, परन्तु साधारण शिक्षक तो ऐसा कदापि नहीं कर सकता। अत: हम लोग प्रचलित शिक्षा-प्रणाली का ही सहारा लेकर मोटे तौर पर अपना काम चलाते हैं, इस प्रकार मानो हम अँधेरे में पत्थर चलाते हैं – जिसमें अनेक पत्थरों की बरबादी होती है और उनमें से बहुत-से गलत स्थानों पर लगकर बेचारे छात्र को आहत करते हैं। मनुष्य के चित्त को लेकर इस प्रकार अन्धाधुन्ध रूप से व्यवहार करने पर नि:सन्देह काफी हानि होगी, परन्तु समाज में सर्वत्र प्रतिदिन यही तो हो रहा है।

यद्यपि मेरे मन में संशय था कि उनमें इस प्रकार की शिक्षा देने की क्षमता है भी या नहीं, तथापि मैंने कहा, "अच्छी बात है। आप अपनी प्रणाली से ही काम कीजियेगा, मैं किसी प्रकार का अनुरोध नहीं करना चाहता।" लगता है कि क्षण भर के लिए उनका मन अनुकूल हुआ था, परन्तु दूसरे ही क्षण वे बोलीं, "नहीं, यह मेरा कार्य नहीं है।" वे बागबाजार की एक गली के पास निवास करती थीं। वहाँ पर मुहल्ले की बालिकाओं के बीच रहकर वे उन्हें शिक्षा देंगी, ऐसा नहीं, बल्कि उनमें शिक्षा जाग्रत करेंगी। मिशनरियों के समान सिर गिनकर दलवृद्धि के सुयोग तथा किसी परिवार में अपने प्रभाव-विस्तार के मौके को उन्होंने अवज्ञापूर्वक त्याग दिया था।

उसके बाद मुझे बीच-बीच में विभिन्न प्रकार से उनके सम्पर्क में आने के अवसर मिले थे। मैंने उनकी प्रबल शक्ति का अनुभव किया था, पर साथ ही मैं यह भी समझ गया था कि उनका पथ मेरे चलने के लिये उपयुक्त नहीं है। उनमें सर्वतोमुखी प्रतिभा और साथ ही और भी एक चीज थी – उनका योद्धापन। उनमें शक्ति थी और उस शक्ति का वे दूसरों के जीवन पर प्रबल रूप से प्रयोग करती थीं – उनके भीतर मन को पराभूत करके उस पर अधिकार जमा लेनेवाला एक विपुल उत्साह क्रियाशील था। एक ओर जहाँ उन्हें मानकर चलना असम्भव था, वहीं

दूसरी ओर उनके साथ ताल मिलाकर चलना भी कठिन था। कम-से-कम मैं अपनी तरफ से तो कह सकता हूँ कि उनके साथ मेरी सहमति के अनेक अवसर होने पर भी, एक स्थान पर मैं अपने अन्तर में महान् बाधा का अनुभव करता था। वह वस्तुत: मतभेद की बाधा न होकर, मानो एक सबल आक्रमण की बाधा थी।

आज यह बात मैं नि:संकोच व्यक्त कर रहा हूँ। इसका कारण यह है कि एक तरफ से मेरे चित्त को आहत करने के बावजूद, दूसरी ओर उनसे मुझे जैसा लाभ मिला है, नहीं लगता कि वैसा किसी और से मिला होगा। उनके साथ परिचय होने के बाद से ऐसा बारम्बार हुआ है कि उनके चरित्र का स्मरण तथा उनके प्रति हार्दिक भक्ति का अनुभव करके मुझे काफी बल मिला है।

स्वयं को इस प्रकार पूरी तौर से समर्पित कर देने की अद्‍भुत शक्ति मुझे अन्य किसी व्यक्ति में देखने को नहीं मिली। इस विषय में उनके स्वयं के भीतर मानो किसी तरह की कोई बाधा ही न थी। उनका शरीर, उनकी बचपन से चली आ रही यूरोपीय आदतें, अपने सगे-सम्बन्धियों की स्नेह-ममता, अपने स्वदेशीय समाज की उपेक्षा; और जिनके लिए उन्होंने प्राणोत्सर्ग किया था, उनकी उदासीनता, दुर्बलता तथा स्वार्थपरता – कुछ भी उन्हें विमुख नहीं कर सका था। जिसने उन्हें देखा है, वही समझ सका है कि मनुष्य का सत्स्वरूप और चित्स्वरूप क्या चीज है। मनुष्य की आन्तरिक सत्ता – किस प्रकार अपने अदम्य तेज से उसके सभी प्रकार के स्थूल आवरणों को झुठलाकर अभिव्यक्त हो सकती है, यह देख पाना परम सौभाग्य की बात है। मनुष्य के उस पूर्ण अजेय माहात्म्य को भगिनी निवेदिता के रूप में अपने सामने प्रत्यक्ष देखकर हम लोग धन्य हुए हैं।

पृथ्वी की सर्वोत्तम चीजें हमें बिना मूल्य ही प्राप्त हुआ करती हैं। उनके लिये हमें मोलभाव नहीं करना पड़ता; कोई मूल्य भी नहीं चुकाना पड़ता, इसी कारण हम उस वस्तु की महत्ता को पूरी तौर से समझ नहीं पाते।

भगिनी निवेदिता हमें जो अपना जीवन दे गयी हैं, वह अति महान जीवन है – उन्होंने कुछ भी बचाकर नहीं रखा – अपना जो श्रेष्ठतम था, जो महत्तम था, उसे उन्होंने प्रतिदिन और प्रतिक्षण दान किया है; उसके लिये मनुष्य जितनी भी प्रकार की तपस्याएँ कर सकता है, उन सबको उन्होंने स्वीकार किया है। यही उनका संकल्प था कि जो बिल्कुल विशुद्ध होगा, वे वही देंगी – स्वयं को वे उसके साथ जरा-सा भी मिश्रित नहीं करेंगी – अपनी क्षुधा-तृष्णा, यश-अपयश कुछ भी नहीं; भय नहीं, संकोच नहीं, आराम नहीं, विश्राम नहीं।

यह जो इतना बड़ा आत्मविसर्जन हमें घर-बैठे मिला है, इसे हम जिन अंशों में छोटा करके देखेंगे, उन अंशों में हम उससे वंचित होंगे; पाकर भी हमारा पाना नहीं होगा। इस आत्मविसर्जन को नि:संकोच भाव से केवल अपना ही प्राप्य मानकर अचेतन रूप से ग्रहण करने से काम नहीं चलेगा। इसके पीछे कितनी बड़ी एक शक्ति, कैसी बुद्धि, कैसा हृदय, कैसा त्याग और प्रतिभा की कैसी ज्योतिर्मयी अन्तर्दृष्टि है, इसकी हमें अनुभूति करनी होगी।

यदि हम इसकी अनुभूति करें, तभी हमारा गर्व दूर हो सकेगा। परन्तु अब भी हम गर्व करते हैं। जो अपना जीवन इस प्रकार दान कर गयी हैं, उस दृष्टि से उनका माहात्म्य हम जिस परिमाण में अपने मन में ग्रहण नहीं कर पाते, उसी परिमाण में हम इस नि:स्वार्थता को अपने गर्व का उपकरण बना लेते हैं। हम कहते हैं कि वे हृदय से हिन्दू थीं, अत: हम हिन्दू लोग कुछ कम नहीं है; उनके इस आत्मनिवेदन में हमारे ही धर्म तथा समाज का महत्त्व है। इस प्रकार हम अपनी तरफ से दावे को जितना ही बड़ा कर रहे हैं, उनकी ओर से मिले हुए दान को उतना ही छोटा कर रहे हैं।

वस्तुत: वे कितनी मात्रा में हिन्दू थीं – यदि हम इस विषय पर चर्चा करें, तो हमें विभिन्न स्थानों पर बाधित होना पड़ेगा – अर्थात् हम हिन्दुत्व के जिस क्षेत्र में हैं, वे भी ठीक उसी क्षेत्र में थीं, यह बात मैं सत्य नहीं मानता। वे हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू समाज को जिस ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से देखती थीं – जिस प्रकार शास्त्र की अपौरुषेय अटल बाड़ को भेदकर संस्कारमुक्त चित्त से, विभिन्न परिवर्तनों तथा अभिव्यक्तियों के माध्यम से विचार तथा कल्पना का अनुसरण करती थीं, यदि हम उसी पथ का अनुसरण करें, तो वर्तमान काल के सामान्य-जन जिसे हिन्दुत्व कहते हैं, उसकी नींव ही दरक जायगी। ऐतिहासिक युक्ति को यदि हम पौराणिक उक्ति से ऊपर स्थान दें, तो उससे सत्य का निर्णय हो सकता है, परन्तु वह निर्विचार विश्वास के लिये अनुकूल नहीं है।

जैसे भी हो, वे हमारे लिए प्रणम्य हैं – इसलिये नहीं कि वे हिन्दू थीं, बल्कि इसलिये कि वे महान थीं। हम उनकी भक्ति करेंगे – इसलिये नहीं कि वे हमारे ही समान थीं, बल्कि इसलिये कि वे हमारी भक्ति की अधिकारिणी हैं, क्योंकि वे हमसे बड़ी थीं। इसी दृष्टि से यदि हम उनके चरित्र की चर्चा करें, तो हम हिन्दुत्व के नहीं, अपितु मनुष्यत्व के गौरव से गौरवान्वित होंगे।

उनके जीवन की जो बात हमारे ध्यान को सर्वाधिक आकृष्ट करती है, वह यह है कि वे जैसे अत्यन्त भावुक थीं, वैसे ही प्रबल रूप से कर्मठ भी थीं। कर्म में एक तरह की अपूर्णता होती है, क्योंकि उसे बाधाओं के बीच से होकर क्रमशः विकसित होना पड़ता है और उन्हीं बाधाओं के दाग उसकी सृष्टि के भीतर बने रहते हैं। परन्तु भाव अक्षुण्ण तथा अक्षत वस्तु है। इसी कारण जो भाव-विलासी लोग हैं, वे कर्म को अवज्ञा अथवा भय की दृष्टि से देखा करते हैं। फिर, उसी प्रकार विशुद्ध कर्मठ लोग भी होते हैं, जो भाव को जरा भी प्रश्रय नहीं देते; वे कर्म के द्वारा किसी बड़ी वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते, अतः कर्म का कोई दोष उनके हृदय को आघात नहीं पहुँचाता।

परन्तु भावुकता जहाँ विलास-मात्र नहीं है, वहाँ वह सत्य है; और कर्म जहाँ प्रभूत उद्यम की अभिव्यक्ति या सांसारिक प्रयोजन का साधन-मात्र नहीं है, वहाँ वह भाव की ही सृष्टि है; वहाँ तुच्छ भी कैसे बड़ा हो उठता है और अपूर्णता भी कैसे मेघविहीन सूर्य की वर्णछटा के समान सौन्दर्य में आलोकित हो उठती है, यह उन्हीं लोगों ने समझा है, जिन्होंने भगिनी निवेदिता के कर्म पर विचार किया है।

भगिनी निवेदिता जिन कार्यों में लगी थीं, उनमें से कोई भी आकार में बड़ा नहीं था। सबका आरम्भ छोटे रूप में हुआ था। देखने में आया कि जहाँ आत्म-विश्वास की कमी रहती है, वहीं बड़े आकार के द्वारा सांत्वना प्राप्त करने की भूख रहती है। भगिनी निवेदिता के लिए यह बिल्कुल भी सम्भव नहीं था। इसका मुख्य कारण यह है कि वे बिल्कुल विशुद्ध थीं। जितना सत्य है, उतना ही उनके लिये पूर्णतः यथेष्ट था, उसे बड़ा करके दिखाने की आवश्यकता का उन्हें जरा भी बोध नहीं होता था; और इस प्रकार बड़ा करके दिखाने के लिये जिस मिथ्या मिलावट का आश्रय लेना पड़ता है, उससे भी उन्हें हार्दिक घृणा थी।

इसी कारण एक बड़ा ही अद्भुत दृश्य देखने में आया – जिनमें ऐसी असाधारण शिक्षा तथा प्रतिभा विद्यमान थी, उन्होंने एक गली के एक ऐसे कोने को अपने कर्मक्षेत्र के रूप में चुन लिया था, जिसकी पृथ्वी के लोगों की दृष्टि में आने की जरा भी सम्भावना नहीं थी। यह भी मानो वैसे ही था, जैसे विराट् विश्व-प्रकृति मिट्टी के नीचे स्थित एक छोटे से बीज का पालन करने में अपनी सारी विपुल शक्ति लगा देती है। अपने इस कार्य का उन्होंने कभी बाहर प्रचार नहीं किया; और न ही हम लोगों से कभी इसके लिये आर्थिक सहायता की अपेक्षा ही की। उन्होंने इसका जो भारवहन किया, वह चन्दे के रुपयों से नहीं, बचत के धन से भी नहीं, बल्कि पूरी तौर से अपने उदरान्न के अंश से किया था।

ऐसी बात नहीं कि क्षमता के अभाव में उनका कार्य छोटा रहा हो। हमें यह बात याद रखनी होगी कि भगिनी निवेदिता में जो क्षमता थी, उससे वे अपने देश में बड़ी आसानी से मान-सम्मान अर्जित कर सकती थीं। वे अपने जिन भी स्वदेशवासियों के सम्पर्क में आयी थीं, वे सभी उनकी प्रबल मनःशक्ति का लोहा मानने को बाध्य हुए थे। वे अपने देशवासियों के बीच ही जो ख्याति अर्जित कर सकती थीं, उस ओर उन्होंने दृष्टिपात तक नहीं किया।

फिर, भारतवासियों के मन में अपना प्रभाव बढ़ाकर वे यहीं पर अपना एक प्रमुख स्थान बना लें – ऐसी इच्छा भी उनके मन को प्रलोभित नहीं कर सकी थी। हमने अन्य ऐसे यूरोपवासियों को भी देखा है, जिन्होंने भारतवर्ष के कार्य को अपना जीवन-कार्य मानकर ग्रहण किया है, परन्तु उन लोगों ने स्वयं को सबके ऊपर रखने का प्रयास किया है – वे लोग श्रद्धापूर्वक स्वयं को दान नहीं कर सके – उनके दान में कहीं-न-कहीं हमारे प्रति अनुग्रह का भाव है। परन्तु – **श्रद्धया देयम् अश्रद्धया अदेयम्** – (श्रद्धापूर्वक देना चाहिये, अश्रद्धापूर्वक नहीं), क्योंकि बायें हाथ की अवज्ञा दाहिने हाथ के दान का अपहरण कर लेती है।

परन्तु भगिनी निवेदिता ने स्वयं को आन्तरिक प्रेम तथा पूर्ण श्रद्धा सहित भारतवर्ष को दान कर दिया था। उन्होंने स्वयं को जरा-सा भी बचाकर नहीं रखा था। फिर, ऐसा भी नहीं कि उन्होंने अपने अति मृदु स्वभाव के कारण अतीव दुर्बलतापूर्वक स्वयं का लोप कर दिया हो। पहले

ही हम आभास दे आये हैं कि उनमें एक अदम्य बल था और ऐसा भी नहीं कि वे उसका प्रयोग न करती हों। वे जो कुछ चाहती थीं, उसे अपने समग्र मन-प्राण से चाहती थीं; और भिन्न मत या स्वभाव के लोगों से उसमें बाधा आने पर उनकी असहिष्णुता भी काफी उग्र हो उठती थी। मैं ऐसा नहीं कह सकता कि उनका यह पाश्चात्य स्वभाव-सुलभ प्रबल प्रताप कोई अनिष्ट नहीं करता था – क्योंकि जो कुछ भी मनुष्य को अभिभूत करने का प्रयास करता है, वही मनुष्य का शत्रु है – इसके बावजूद मैं कहता हूँ कि उनकी 'उदार महत्ता' उनकी 'प्रचण्ड प्रबलता' को काफी पीछे छोड़ गयी थी।

वे जिसे उचित समझतीं, उसे विजयी बनाने के लिये अपनी पूरी शक्ति लगाकर संघर्ष करतीं; और स्वयं ही उस जय-गौरव का वरण करने का लोभ उनमें लेशमात्र भी नहीं था। दल बनाकर उसका नेतृत्व करना उनके लिये जरा भी कठिन नहीं था, परन्तु विधाता ने उन्हें दलपति की अपेक्षा काफी ऊँचा आसन प्रदान किया था; उन्होंने अपने भीतर के उस सत्य के आसन से उतरकर बाजार में मंच नहीं बनाया। इस देश को वे अपना जीवन दे गयी हैं, परन्तु अपने पीछे कोई दल नहीं छोड़ गयीं।

इसका कारण यह नहीं कि उनके भीतर रुचिगत या बुद्धिगत आभिजात्य का अभिमान था, अर्थात् ऐसी बात नहीं कि जनसाधारण के प्रति अवज्ञा-भाव होने के कारण उन्होंने उनका नेतृत्व न किया हो। जनसाधारण को हृदय दान करना कितनी सत्य वस्तु है, यह बात हमने उन्हीं को देखकर जानी है। जनता के प्रति कर्तव्य-विषयक हमारा बोध किताबी है – इस विषय में हमारा कर्तव्य-बोध बुद्धि से अधिक गहराई तक नहीं जा सका है। परन्तु भगिनी निवेदिता जनसाधारण को वैसे ही प्रत्यक्ष सत्ता के रूप में अनुभव करती थीं, जैसे एक माँ अपने पुत्र को स्पष्ट रूप से समझती है। वे इस बृहत्-भाव को एक व्यक्ति-विशेष के समान ही प्रेम करती थीं। अपने हृदय की सम्पूर्ण वेदना के द्वारा उन्होंने इस 'पीपल' (people) – जनसाधारण को आवृत कर रखा था। यदि वह एक शिशु मात्र होता, तो वे उसे अपनी गोद में रखकर उसे अपना जीवन देकर मनुष्य बना देतीं।

वस्तुत: वे लोकमाता थीं। जो मातृभाव अपने परिवार के बाहर के, एक समग्र देश के ऊपर स्वयं को व्याप्त कर सके, ऐसी मूर्ति इसके पहले कभी हमारे देखने में नहीं आयी। इस विषय में पुरुष का जो कर्तव्यबोध है, उसका कुछ-कुछ आभास हमें मिला है, परन्तु नारी का परिपूर्ण ममत्वबोध हमें देखने को नहीं मिला था। वे जब 'अवर पीपल' (our people – हमारी जनता) कहतीं, तो उससे जिस नितान्त आत्मीयता का सुर प्रकट होता, वैसा हममें से किसी के भी कण्ठ से नहीं निकलता। भगिनी निवेदिता देश के लोगों को जैसी वास्तविकता बनाकर उनसे प्रेम करती थीं, उसे जिसने देखा है वह निश्चय ही समझ गया होगा कि सम्भव है हम लोग देशवासियों के लिये समय देते हों, धन देते हों और यहाँ तक कि जीवन भी देते हों, परन्तु हम उन्हें अपना हृदय नहीं दे सके हैं – उन्हें वैसे अत्यन्त सत्य समझकर निकट से जानने की क्षमता हम अर्जित नहीं कर सके हैं।

हम लोग जब देश या मानवता या इसी तरह की किसी समष्टिगत सत्ता को मन के भीतर देखने का प्रयास करते हैं, तो उसे अत्यन्त अस्पष्ट रूप से ही देख पाते हैं और उसका एक कारण भी है। हम ऐसी बृहत् व्यापक सत्ता को केवल मन के द्वारा ही देखना चाहते हैं, आँखों से नहीं देखते। जो व्यक्ति देश के प्रत्येक मनुष्य के भीतर समग्र देश को नहीं देख पाता, वह मुख से चाहे जो भी कह ले, परन्तु देश को यथार्थ रूप से नहीं देखता। भगिनी निवेदिता को देखा है – वे जनसाधारण को देखती थीं और स्पर्श करती थीं – केवल मन-ही-मन कल्पना नहीं करती थीं। मैंने उन्हें एक बड़े गाँव में कुटीरवासिनी एक साधारण मुसलमान महिला के साथ जिस श्रद्धा के साथ बातें करते देखा है, वैसा सामान्य लोगों के लिये सम्भव नहीं है, क्योंकि तुच्छ व्यक्ति के भीतर बृहत् मानव को प्रत्यक्ष देखनेवाली वह दृष्टि अत्यन्त असाधारण है। वही दृष्टि उनके लिये अति स्वाभाविक थी, इसीलिए इतने दिन भारतवर्ष के इतने निकट रहकर भी उनकी श्रद्धा में ह्रास नहीं आया।

सामान्य-जन भगिनी निवेदिता के हृदय-धन थे, अत: वे केवल दूर से ही उनका उपकार करके अनुग्रह नहीं करती थीं। वे उन लोगों की निकटता चाहती थीं, उन्हें पूर्ण रूप से जानने के लिये वे अपने पूरे मन को उनकी ओर प्रसारित कर देती थीं। उन लोगों के धर्म-कर्म, कथा-कहानी, कला-साहित्य आदि उनकी जीवन-यात्रा के समस्त

विवरण को, न केवल बुद्धि, अपितु अपनी ममता के द्वारा ग्रहण करने का उन्होंने प्रयास किया था। उनमें जो कुछ अच्छा है, सुन्दर है, नित्य वस्तु है, उसी को उन्होंने चरम आग्रह के साथ ढूँढ़ा है। मानव के प्रति एक स्वाभाविक श्रद्धा तथा आन्तरिक मातृस्नेह के चलते ही वे इस अच्छाई में विश्वास करती थीं और उसे खोज पाती थीं। इस आग्रह के वेग में उनसे कभी गलती नहीं हुई हो, ऐसी बात भी नहीं है, परन्तु श्रद्धा के गुण से उन्होंने जिस सत्य का उद्धार किया है, उसके सामने वे सारी भूलें तुच्छ हैं। सभी अच्छे शिक्षक यह जानते हैं कि प्रकृति ने शिशु के स्वभाव में ही शिक्षा की सहज प्रवृत्ति को निहित कर रखा है – बच्चों की चंचलता, उनका सतत कुतूहल, खेलकूद – यह सब प्राकृतिक शिक्षा-प्रणाली है, जनसाधारण में भी इसी प्रकार का एक शिशुत्व है। इसी कारण जनमानस ने स्वयं को शिक्षा तथा सान्त्वना देने के विभिन्न उपायों की सृष्टि की है। जैसे बच्चों का बचपना निरर्थक नहीं होता – वैसे ही जनसाधारण के विभिन्न संस्कार तथा प्रथाएँ निपट मूढ़ता नहीं हैं – वह सब स्वयं को विभिन्न प्रकार की शिक्षा देने के लिये उनकी अन्तर्निहित चेष्टाएँ हैं और वही उनकी स्वाभाविक शिक्षा का पथ है। मातृहृदय निवेदिता जनसाधारण के इन समस्त आचारों-व्यवहारों को इसी दृष्टि से देखती थीं। इसी कारण उनके अन्तर में उन सबके प्रति प्रगाढ़ स्नेह था। उनकी सारी बाह्य रूढ़ता को भेदकर वे उनके भीतर मानव-प्रकृति के चिरन्तन गूढ़ अभिप्राय को देख पाती थीं।

जनसाधारण के प्रति उनका यह जो मातृस्नेह था, वह एक ओर जैसे करुणा तथा कोमलता से युक्त था, वैसे ही दूसरी ओर शावक-वेष्टित बाघिन के समान प्रचण्ड भी था। बाहर से कोई निर्ममतापूर्वक इनकी कुछ निन्दा करे, तो वे इसे सह नहीं पाती थीं – अथवा जब-जब सरकार का कोई अन्याय-अविचार इन लोगों को आघात पहुँचाने को उद्यत होता, तब-तब उनका तेज उद्दीप्त हो उठता था। कितने ही लोगों की नीचता तथा विश्वास-घातकता को उन्होंने सहन किया था, कितने ही लोगों ने उनसे छल किया था; अपने अतीव सीमित संसाधनों के द्वारा उन्होंने कितने ही नितान्त अयोग्य लोगों के असंगत हठों को पूरा किया था – सब कुछ उन्होंने आनन्दपूर्वक सहन किया था। उनका एकमात्र भय था, तो वह यही कि कहीं उनके घनिष्ठ मित्रगण हीनता के इन दृष्टान्तों के द्वारा उनके 'पीपल' (people – जनसाधारण) के विषय में कोई गलत निष्कर्ष न निकाल बैठें। इनमें जो कुछ अच्छा है, जैसे वे उसी को देखने का प्रयास करतीं, वैसे ही परायों की अश्रद्धापूर्ण दृष्टि से इन लोगों की रक्षा के लिए अपने सम्पूर्ण मातृहृदय से इन्हें आवृत कर लेना चाहती थीं। इसका कारण यह नहीं कि सत्य को छिपा लेना उनका उद्देश्य रहा हो, बल्कि उन्हें पता था कि अश्रद्धा के द्वारा इन लोगों का अपमान करना अत्यन्त सहज है और स्थूलदृष्टि लोगों के लिये वही सम्भव है, परन्तु इनके अन्त:पुर में जहाँ लक्ष्मी निवास कर रही हैं, वहाँ तो इन श्रद्धाहीन लोगों को प्रवेश का अधिकार ही नहीं है – इसी कारण सारे विदेशी दिग्गजों की स्थूल समालोचना से इन अपने लोगों की रक्षा करने के लिये वे ऐसी व्याकुल हो उठती थीं; और हमारे देश के जो लोग विदेशियों के सम्मुख ऐसी दीनता प्रकट करने जाते कि हमारे पास तो कुछ भी नहीं है और तुम्हीं लोग हमारे एकमात्र सहारे हो, उन्हें वे अपनी तीव्र रोष की वज्रशिखा के द्वारा विद्ध कर डालना चाहती थीं।

ऐसे यूरोपवासियों की बात भी सुनने में आती है, जो हमारे शास्त्र पढ़कर, वेदान्त-चर्चा करके, हमारे किन्हीं साधु-सज्जन के चरित्र या वार्तालाप से आकृष्ट होकर, भारत के प्रति भक्ति लिये हमारे बीच आये और अन्त में दिन-पर-दिन उस भक्ति को खोते हुए खाली-हाथ अपने देश लौट गये। उन्होंने शास्त्र में जो कुछ पढ़ा, साधु-चरित्र में जो कुछ देखा, उसे समग्र देश की निर्धनता तथा अपूर्णता का आवरण भेदकर नहीं देख सके। उनकी भक्ति मोह मात्र थी, जो अन्धकार में ही टिकी रहती है, आलोक में आते ही उसके लोप होते समय नहीं लगता।

परन्तु भगिनी निवेदिता की जो श्रद्धा है, वह मोह नहीं, बल्कि वास्तविक पदार्थ है – वह श्रद्धा व्यक्ति के भीतर दर्शनशास्त्र के श्लोक नहीं ढूँढ़ती थी, अपितु बाहर के समस्त आवरणों का भेद करते हुए बिल्कुल मर्मस्थल तक पहुँचकर उसके मनुष्यत्व को स्पर्श करती थी। इसीलिए हमारे देश को अत्यन्त हीन दशा में देखकर भी वे कुण्ठित नहीं हुईं। प्रत्येक दीनता ने उनके चित्त में अवज्ञा नहीं, अपितु स्नेह का भाव उद्वेलित किया। हमारा आचार-व्यवहार, बोलना-चलना, वेशभूषा और हमारे प्रतिदिन के क्रिया-कलाप एक यूरोपीय को किस प्रकार असह्य चोट

पहुँचाते हैं, इस बात को हम ठीक-ठीक समझ ही नहीं पाते, इसी कारण अपने प्रति उनकी असौजन्यता को हम पूरी तौर से बेतुका समझते हैं। परन्तु थोड़ा-सा विचार करने से ही हम समझ सकते हैं कि छोटी-छोटी रुचियों, आदतों तथा संस्कारों की बाधा कितनी बड़ी बाधा है, क्योंकि अपने ही देश की भिन्न श्रेणियों तथा भिन्न जातियों के बारे में वह हमारे मन में भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। बाड़ की बाधा की तुलना में छोटे-छोटे काँटों की बाधा भी कुछ कम नहीं है, अत: यह बात हमें स्मरण रखनी होगी कि भगिनी निवेदिता जो कलकत्ते के बंगाली मुहल्ले की एक गली में बिल्कुल हमारे घर के भीतर आकर रहीं, इससे उन्हें दिन-रात प्रतिक्षण जो विचित्र वेदना होती थी, उसका इतिहास कभी प्रकट नहीं हो पाता था।

एक तरह के स्थूल रुचि के लोग हैं, जिन्हें होनेवाली थोड़ी-बहुत पीड़ा उनके मर्म को जरा भी स्पर्श नहीं कर पाती। उनकी जड़ता ही उनकी अनेक आघातों से रक्षा करती है। भगिनी निवेदिता बिल्कुल भी वैसी व्यक्ति न थीं। उनकी बोधशक्ति हर तरह से सूक्ष्म तथा प्रबल थी, रुचि की वेदना उनके लिये नगण्य न थी। पग-पग पर तामसिकता का परिचय देनेवाली हमारी घर-बाहर की जड़ता, शिथिलता, अस्वच्छता, अव्यवस्था और हर तरह के प्रयासों के अभाव ने नि:सन्देह उन्हें तीव्र पीड़ा दी, परन्तु पराभूत नहीं कर सकी। सबसे कठिन परीक्षा – यही जो प्रतिक्षण की परीक्षा है, इसमें वे विजयी हुई थीं।

शिव के प्रति सती का सच्चा प्रेम था, इसीलिए उन्होंने अर्धाहार, उपवास और अग्निताप सहन करते हुए अपने अत्यन्त सुकुमार तन-मन को कठोर तपस्या में समर्पित कर दिया था। इन सती निवेदिता ने भी दिन-पर-दिन जो तपस्या की थी, उसकी कठोरता असीम थी – उन्होंने अर्धाहार या अनाहार स्वीकार किया था; गली के भीतर वे जिस मकान में रहतीं, वहाँ ग्रीष्म के ताप के बीच, हवा के अभाव के बीच वे अनिद्रा में रात बिता देती थीं, तथापि चिकित्सकों तथा मित्रों के प्रबल अनुरोध के बावजूद उन्होंने उस मकान को छोड़ा नहीं; और अपने बचपन से चले आ रहे समस्त संस्कारों तथा आदतों को प्रतिक्षण पीड़ा देकर भी उन्होंने वहाँ प्रफुल्ल चित्त के साथ दिन बिताये – यह जो सम्भव हुआ है और यह सब स्वीकार करके भी अन्त तक उनकी तपस्या भंग नहीं हुई, इसका एकमात्र कारण यह है कि भारतवर्ष के कल्याण के लिये उनकी प्रीति पूर्णत: सत्य थी। वह मोह नहीं था। मनुष्य के भीतर जो शिव हैं, उन्हीं के प्रति इन सती ने पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण किया था। मनुष्य के अन्तर-कैलाश में स्थित शिव को ही जो अपने पतिरूप में वरण करना चाहें, उनकी साधना के समान कठिन साधना भला और किसकी हो सकती है?

महादेव ने एक दिन स्वयं ही छद्मवेश में सती के पास आकर कहा था, "हे साध्वी, तुम जिनके लिये तपस्या कर रही हो, वे क्या तुम्हारे समान रूपवती की इतनी कठोर साधना के योग्य हैं? वे निर्धन, वृद्ध तथा कुरूप हैं, और उनके आचरण भी विचित्र हैं।" इस पर तपस्विनी ने क्रुद्ध होकर था, "तुम जो कह रहे हो, वह सब सत्य हो सकता है, तथापि मेरा सम्पूर्ण मन उन्हीं के भाव में 'एकरस' होकर स्थिर हो गया है।"

सती के मन को शिव के भीतर ही जो भाव का रस प्राप्त हुआ है, उसके बाद भी क्या वे बाह्य धन-यौवन, रूप और आचरण में तृप्ति खोज सकती हैं? भगिनी निवेदिता का मन सर्वदा उसी अनन्य दुर्लभ गहन भावरस से पूर्ण रहा करता था। इसी कारण वे निर्धन के भीतर भी ईश्वर को देख सकी थीं और बाहर से जिसमें रूप का अभाव देखकर रुचि-विलासी लोग घृणापूर्वक दूर हट जाते हैं, उन्हीं के रूप से मुग्ध होकर उन्हीं के कण्ठ में उन्होंने अपने अमर जीवन की शुभ्र वरमाला समर्पित कर दी थी।

हम लोगों ने अपने नेत्रों के समक्ष सती की यह जो तपस्या देखी, वह हमारे विश्वास की जड़ता को दूर कर दे – हम इस बात को असन्दिग्ध सत्य के रूप में जान सकें कि मनुष्य के भीतर शिव हैं, निर्धन की पर्णकुटी तथा निम्न वर्णों की उपेक्षित बस्ती में भी उनका देवलोक फैला है; और जो व्यक्ति समस्त दारिद्र्य, कुरूपता एवं कदाचार के बाह्य आवरण को भेदकर भावदृष्टि से इन परम ऐश्वर्यमय, परम सुन्दर को एक बार भी देख सका है; वह मनुष्य की अन्तरतम आत्मा को पुत्र से भी प्रिय, वित्त से भी प्रिय और सर्वस्व से भी प्रिय के रूप में वरण कर लेता है। वह भय को पार कर लेता है, स्वार्थ को जीत लेता है, आराम को तुच्छ समझता है, संस्कार-बन्धन को छिन्न कर डालता है और स्वयं की ओर क्षण भर के लिये भी भ्रूक्षेप नहीं करता। ○○○

भारतीय कला के पुनरुत्थान में निवेदिता का योगदान

स्वामी तन्निष्ठानन्द
रामकृष्ण मठ, नागपुर

(मराठी से इस लेख का अनुवाद नागुपर की सुश्री मीनल जोशी ने किया है । सं.)

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है – "जिस मनुष्य को कला के सौन्दर्य और भव्यता के प्रति संवेदना नहीं, वह सही अर्थों में धार्मिक नहीं हो सकता।" कला राष्ट्र की संस्कृति और इतिहास की द्योतक होती है। उसका अपना एक विशिष्ट स्थान, विशिष्ट अस्तित्व होता है।

भगिनी निवेदिता अपने गुरु स्वामी विवेकानन्द जी के कार्यों में सहभागी होने के लिये इंग्लैंड से भारत आयीं। स्वामीजी ने उन्हें भारत के रीति-रिवाजों से अवगत कराया। उन्होंने भगिनी निवेदिता के साथ उत्तर भारत की यात्रा की। इस यात्रा में स्वामीजी ने उन्हें अनेक कथाओं द्वारा भारतीय संस्कृति तथा इतिहास का ज्ञान दिया। उन्होंने निवेदिता को भारतीय संस्कृति के अद्भुत आयामों के दर्शन कराए। विविध वास्तुशिल्प, मूर्तियाँ, गुफाओं में आलेखित चित्र तथा शिल्प देखकर निवेदिता मंत्रमुग्ध हो गयी थीं। स्वामीजी ने भगिनी निवेदिता को भारतीय चित्रकला, शिल्पकला, स्थापत्यकला इत्यादि कलाओं के पीछे की आध्यात्मिक तथा राष्ट्रीय एकता की नई दृष्टि प्रदान की। इससे निवेदिता में भारतीयता का बोध जाग्रत हुआ।

पाश्चात्य विद्वान भारतीय चित्रकला, स्थापत्यकला आदि की समालोचना करते थे। तुलनात्मक समीक्षा में वे ग्रीक कला को ही श्रेष्ठ मानते थे। ग्रीक कला से ही अन्य देशों के कला की तुलना करते थे। वे अन्य देशों की कला का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं स्वीकार करते थे। पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण पूर्वाग्रह से ग्रसित था।

स्वामीजी ने निवेदिता को समझाया कि किस प्रकार पाश्चात्य लेखकों और अन्वेषकों ने भारतीय कलाओं और भारतीयों को विकसित नहीं होने दिया। पाश्चात्यों ने भारतीय कलाओं का प्रचार-प्रसार तो होने ही नहीं दिया, अपितु लोगों को भ्रमित भी किया। उदाहरणार्थ, अजंता के शिल्प। लोग इन शिल्पों को केवल कुदृष्टि से देखने लगे। परवर्तीकाल में निवेदिता ने यह सिद्ध किया कि उन पर प्राचीन भारतीय कला, शास्त्र, वाङ्मय, संस्कृति पर ग्रीक शैली का कोई प्रभाव नहीं है। उन्होंने भारतीय कलाओं को पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त कर मूल स्वरूप में विश्व के सामने प्रस्तुत किया।

स्वामीजी के सान्निध्य में निवेदिता को भारतीय कलाओं के प्रति रुचि बढ़ी और उनके पुनरुत्थान की प्रेरणा मिली। इसी प्रेरणा ने उन्हें भारतीय संस्कृति को जानने की व्याकुलता उत्पन्न की । कलाप्रेमी निवेदिता को मिट्टी के लघुपात्र, घर की दीवारों पर आलेखित चित्र आदि का अद्‌भूत आकर्षण था। उन्हें दैनन्दिन जीवन की वस्तुओं में पुरातन भारतीय संस्कृति के जीवन्त प्रारूप का अनुभव होता था।

१९०२ में निवेदिता बड़ोदा के राजा गायकवाड़ के साथ भग्न काली मंदिर में गयीं। कालीमाता के सामने नतमस्तक होने पर भगिनी के मुख से अनायास उद्‌गार निकले, "अद्भुत ! कितना सुन्दर !" यह सुनकर महाराजा विस्मित हो गये। निवेदिता काली-मूर्ति के अलौकिक सौन्दर्य में लीन हो गयी थीं। वाराणसी के काँग्रेस अधिवेशन के पश्चात् निवेदिता ने साँची, चित्तौड़, आगरा, उज्जैन आदि स्थानों की यात्रा की। तब वे वहाँ की अद्भुत ऐतिहासिक घटनाओं में ध्यानमग्न हो जातीं। कई बार उन्होंने सम्पूर्ण रात्रि इसी प्रकार अश्रुपूर्ण नेत्रों में बितायी।

भगिनी निवेदिता ने अमेरिका के शिकागो शहर में १ दिसम्बर १८९९ को 'इंडियन फाईन आर्टस्' (ललित कला व हस्तकला) इस विषय पर व्याख्यान दिया था। उसका सारांश इस प्रकार है –"हिन्दू शिल्पकला वस्तु की तुलना में भाव की अभिव्यक्ति में अधिक सफल है। भारतीय शिल्प भावात्मक अभिव्यक्ति के परिचायक हैं। प्रतीकों के माध्यम से हिन्दू-शिल्पों का आविष्कार हुआ है। प्राचीन तथा मध्ययुग के हिन्दू शिल्प धर्मकेन्द्रित हैं। उस काल में भारतीय धर्म के अनुसार शिल्पकलाओं की अभिव्यक्ति होती थी। किन्तु परवर्तीकाल में प्रतीकों का अत्यधिक प्रयोग होने

से शिल्पों को समझना कठिन हो गया। हिन्दू शिल्पकला के पतन का कारण प्राणहीन अलंकारिता थी। हिन्दू शिल्पशास्त्र भारतीय सभ्यता की उपज है। उस पर बाह्य सभ्यता का प्रभाव नहीं है। भारतीय शिल्पशास्त्र में मध्ययुग के मुगल शिल्प भी समाहित हैं।''

निवेदिता का विचार था कि अभिनव राष्ट्र के निर्माण में प्राचीन कलाओं का पुनरुद्धार और अध्ययन करना आवश्यक है। उन्होंने शिक्षित भारतवासियों को लेखों के माध्यम से भारतीय शिल्पकला का मूल तथा सत्य तत्त्व स्वीकारने को बाध्य किया। निवेदिता ने भारतीय भावधारा का अनुसरण करने के लिये कलाकारों को प्रेरित किया और शिक्षित समाज के सामने इन कलाकारों को प्रस्तुत किया।

ई. बी. हॅवेल

श्री इ. बी. हॅवेल कलकत्ता स्थित सरकारी कला विद्यालय के प्राचार्य थे। उनका स्पष्ट मत था, ''भारतीय कला स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई है। ग्रीक स्थापत्य अथवा रोमन चित्रकला से वह भारत में नहीं आयी।'' इस विचार ने निवेदिता को मुग्ध कर दिया। उन्होंने श्री हॅवेल महाशय को भारतीय चित्रकला के तत्त्वज्ञान तथा मूल स्रोत को समझने में सहायता की थी। भारतीय चित्रकला और संस्कृति इन दोनों विषयों पर वे चर्चा करते थे। श्री हॅवेल ने एकबार निवेदिता से कहा था – 'मैं किसी व्यक्ति को चित्र बनाना या रंग-संयोजन करना सिखा सकता हूँ, किन्तु प्रतिभासम्पन्न कलाकार का निर्माण नहीं कर सकता।'' इस पर निवेदिता ने कहा था – ''मेरा ऐसा विश्वास है कि देशप्रेम, बन्धुप्रेम जन्मभूमि पर गर्व, भविष्य की आशा और भारत पर अपार प्रेम-भक्ति, यदि ये सभी गुण एकत्र हो गये, तो कुछ भी चमत्कार हो सकता है। इन गुणों से सामान्य मनुष्य भी विशेष बन जायेगा। दूसरों का अनुकरण करनेवाला भी प्रतिभावान बन जायेगा।''

दार्शनिक, विद्वान और श्रेष्ठ शिल्प-समालोचक श्री आनन्द केन्टीश कुमार स्वामी का जन्म श्रीलंका में हुआ था। इंग्लैंड में उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। उन्होंने भारतीय शिल्प और संस्कृति पर साठ पुस्तक-पुस्तिकाएँ लिखीं तथा 'मिडीवल सिंहलीज आर्ट' नामक ग्रंथ लिखा था। उनके मतानुसार – ''भारतीय सभ्यता श्रीलंका में प्रसारित हुई है। भारतीय सभ्यता के साथ सम्बन्ध नहीं रखने से सिंहली संस्कृति का नाश हो जाएगा।''
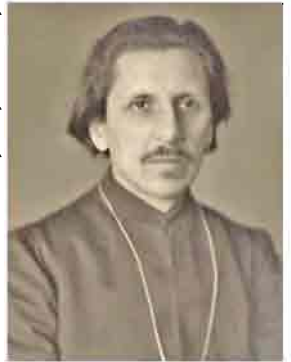
आनन्दकुमार स्वामी

निवेदिता के 'काली द मदर' और 'वेब ऑफ इंडियन लाईफ' पुस्तकों से श्रीकुमार प्रभावित थे। वे लोगों को निवेदिता की पुस्तकें पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते थे। उन्होंने निवेदिता की 'वेब ऑफ इंडियन लाइफ' इस पुस्तक की समीक्षा प्रस्तुत की। इससे लोगों में भारतीय जीवन-शैली प्रकट हुई।

'मिथ्स ऑफ द हिन्दूज एंड बुद्धिस्ट' इस पुस्तक के लिए निवेदिता ने पौराणिक कथाएँ लिखना प्रारम्भ किया था। उसमें अनेक भारतीय कलाकारों के चित्र थे। निवेदिता की आकस्मिक मृत्यु से इस पुस्तक का कार्य अधूरा रह गया था। बाद में श्री आनन्द जी ने ही इस कार्य को पूर्ण किया।

निवेदिता, श्री हॅवेल और श्री आनन्दकुमार स्वामी इन तीनों ने मिलकर भारतीय कला को स्वतंत्र रूप से प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। भारतीय कला-विद्यालयों के सुयोग्य संचालन पर विचार-विमर्श किया। उस समय कलकत्ता छोड़कर मद्रास, त्रिवेन्द्रम, मुम्बई, लाहोर में कला विद्यालय थे। वहाँ के प्राचार्य और शिक्षक विदेश से आये थे। वे पाश्चात्य पद्धति से कला सिखाते थे। निवेदिता आदि ने इस पद्धति का विरोध किया। उन्होंने निश्चय किया कि भारतीय कला को पुनर्जीवित करने की शिक्षा इन कला विद्यालयों में देनी चाहिए। श्री अवनीन्द्रनाथ टैगोर, श्री नन्दलाल बसु, श्री सुरेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय, श्री असितकुमार हलदार, श्री ओ.सी. गांगुली, श्री व्यंकटप्पा इत्यादि कलाकारों ने इस कार्य में उनका सहयोग किया। १९०७ में सभी ने मिलकर 'इंडियन सोसायटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट' नामक संस्था की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य भारतीय कला का प्रचार एवं प्रसार करना था।

निवेदिता भारतीय संस्कृति की व्याख्याता थीं। वह भारतीय नई पीढ़ी के विद्यार्थियों की प्रेरणास्रोत थीं। निवेदिता युवकों को प्रोत्साहित करती थीं। वे युवकों की त्रुटियों को दिखाकर सही मार्गदर्शन करतीं। इनसे प्रभावित होकर विद्यार्थी पाश्चात्य अंधानुकरण नहीं करते थे। विद्यार्थियों का दृढ़ विश्वास था कि भारत का यथार्थ विकास

करना हो, तो भारतीय दर्शनशास्त्र को स्वीकार करना होगा। भारतीय दर्शनशास्त्र का उद्भव भारतीय धर्म और भारतीय कला से हुआ है।

भगिनी निवेदिता कहती थीं – ''भारतीय कला का पुनर्जन्म होना चाहिए। यूरोपियों के दृष्टिकोण से भारतीय कला का जो विकृत रूप आज लोगों के सामने प्रस्तुत किया जाता है, उसे रोकना चाहिए। कला लोकमानस तक पहुँचने का शक्तिशाली माध्यम है। कला को अब विषय मिला है – भारत ! प्रिय भारत ! कलाकारों को समुद्री किनारे पर प्रात:काल पूजा-अर्चना करनेवाली भारतीय नारियों का शिल्प, भारतीय साड़ी का सौन्दर्य दर्शाने वाली रेखाकृति, गाँवों का निर्मल जीवन, मंदिर का चित्र, गंगा किनारे खेलनेवाले बालकों के खेल, यहाँ का कष्टमय जीवन इत्यादि के चित्र बनाने चाहिए। कलाकार विभिन्न दृष्टिकोणों से भारतीय जीवन का चित्रण कर सकते हैं।''

निवेदिता का दृढ़ मत था – ''कला में मध्ययुगीन काल की पुनरावृत्ति अथवा अनुकरण, संकीर्ण श्रृंगारिक दृश्यों को न दिखाकर राष्ट्रीयता और राष्ट्र-जीवन का समावेश हो। कलाकारों में सामाजिक कर्तव्य-बोध होना चाहिए।''

श्री अवनींद्रनाथ टैगोर कलकत्ता कला विद्यालय के उप-प्राचार्य थे। भगिनी निवेदिता से परिचित होने के पूर्व वे पाश्चात्य विचार-पद्धति से प्रभावित थे। भगिनी निवेदिता के सम्पर्क में आने के बाद उनके विचारों में आमूल परिवर्तन हुआ। यूरोपीय, जापानी, मुगल, राजपूत इन कलाओं से अच्छी बातें ग्रहण कर श्री अवनींद्रनाथ ने स्वतन्त्र भारतीय शैली का विकास किया। कला के क्षेत्र में एक नवीन विचारशैली प्रतिष्ठित की। यह विचारशैली मूर्त रूप में कलकत्ता स्कूल के नाम से विख्यात हुई।

अवनीन्द्रनाथ टैगोर

श्री अवनींद्रनाथ ने भारतीय शैली में 'भारतमाता' का चित्रांकन किया। भारतमाता के चित्र को देखकर निवेदिता बहुत आनन्दित हुईं। उन्होंने कहा था, ''भारतमाता जिसकी इतने दिनों से प्रतीक्षा कर रही थी, उन्हें वह मिल गया। आधुनिक भारत की सारी संकल्पनाएँ इस चित्र में साकार हुई हैं।''

अवनीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा चित्रित भारतमाता

श्री अवनींद्रनाथ टैगोर द्वारा चित्रांकित भारतमाता, सीता, शाहजहाँ का ताज, और शाहजहाँ की अंतिम शय्या, इन चार चित्रों पर निवेदिता ने समाचार पत्रों में समीक्षात्मक लेख लिखे। श्री अवनींद्रनाथ अथवा उनके शिष्यों ने निवेदिता के 'क्रॅडल टेल्स ऑफ हिन्दुजम' 'मिथ्स ऑफ हिन्दुज एण्ड बुद्धिस्ट' और 'फुटफाल्स ऑफ इंडियन हिस्ट्री' नामक पुस्तकों के लिए चित्र बनाए थे।

कलाकारों के लिए स्वामी विवेकानन्द की आदर्श वाणी थी – 'ज्ञानमार्ग पर विचरण करते हुए सौन्दर्य-विज्ञानशास्त्र की साधना और लक्ष्य प्राप्ति करना। भावनाओं के साथ ज्ञान का आश्रय लेना।'' एक बार स्वामीजी ने अपने मित्र श्री प्रियनाथ सिन्हा को इस सम्बन्ध में सचेत किया था। उस समय चित्रकला महाविद्यालय के विद्यार्थी कृष्ण-अर्जुन को पॅगोड़ा रथ में बिठाकर कुरुक्षेत्र का चित्र बनाते थे। उसे देखकर स्वामीजी नाराज हुए। स्वामीजी ने कहा, ''पौराणिक चित्र बनाना हो, तो उस युग का संशोधन आवश्यक है। कलाकारों को इतिहास पढ़ना चाहिए। वस्तु-संग्रहालयों में जाना चाहिए। चित्रों में सत्य अभिव्यक्त होना चाहिए।'' स्वामीजी ने श्री प्रियनाथ सिन्हा को कुरुक्षेत्र के कृष्णार्जुन का चित्र रेखांकित करने का मार्गदर्शन किया था।

निवेदिता कलाकारों को स्वामीजी की भावधारा समझाती थीं। उन्हें तत्कालीन सामाजिक प्रथाओं का अध्ययन करने को प्रेरित करती थीं। वे कहती थीं, ''चित्रों में रेखांकित मानवीय चेहरे समसामयिक हों। क्योंकि भारतीय कला का यह वैशिष्ट्य है।'' उन्हें विश्वास था कि राष्ट्र-निर्माण के कार्य में भारतीय कलाकार कला के द्वारा महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। वे कला महाविद्यालयों में जाकर छात्रों का मार्गदर्शन करती थीं। विद्यार्थियों की आवश्यकतानुसार

सहायता करती थीं। चित्रों में व्यक्ति और उनकी शारीरिक रचना भारतीय ही होनी चाहिए, इसकी वे पक्षधर थीं।

प्राचीन भावधारा के कलाकार श्री ईश्वरी प्रसाद और श्री हाकिम मोहम्मद खान के चित्रों का सौन्दर्य ही नहीं, अपितु उनकी कमियाँ भी निवेदिता ने दिखाई थीं। श्री गगनेन्द्रनाथ टैगोर की असाधारण 'इम्प्रशनिष्ट स्केच' (बारीकी से न सजाकर भावपूर्ण अभिव्यक्ति को बल देने वाला चित्रांकन) की निवेदिता प्रशंसक थीं। उन्होंने श्री ओ. सी. गांगुली को एक वर्ष तक केवल रंग-संयोजन पर ही विचार करने को कहा था। श्री गांगुली ने इस सुझाव का पूर्ण रूप से पालन किया। इससे उनकी कलात्मकता में प्रखरता और सौन्दर्य का विकास हुआ। जीवन के अन्त में श्री प्रियनाथ सिन्हा की आर्थिक स्थिति कमजोर होने पर निवेदिता ने अपने मित्रों को पत्र लिखा और उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान की।

भारतीय शिल्प आन्दोलन में श्री नन्दलाल बोस का सर्वश्रेष्ठ योगदान है। चित्रकला महाविद्यालय में विद्यार्थी के रूप में उनका निवेदिता से परिचय हुआ। उनके बनाए चित्र निवेदिता को बहुत पसन्द आये। चित्रों का सूक्ष्म अवलोकन कर निवेदिता ने कुछ सुझाव दिये। श्री नन्दलाल के सत्यभामा का मानभंजन, कालीमाता और दशरथ राजा का देहत्याग, इन तीनों चित्रों पर उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये। निवेदिता ने श्री नन्दलाल के अनेक चित्रों की समीक्षा की। उन्होंने श्री नन्दलालजी को स्वामीजी की 'काली द मदर' कविता पढ़ने के लिये कहा। जिससे उनकी ठीक धारणा हो और वे चित्रों में सही भाव प्रदर्शित कर सकें। श्री नन्दलालजी के द्वारा बनाया हुआ स्वामीजी का चित्र देखकर निवेदिता के आनन्द की सीमा न रही। श्री नन्दलाल बसु का 'सती' का चित्र विश्वप्रसिद्ध हुआ। प्रेम और निष्ठा की प्रतीक 'सती' का चित्र बनाते समय उनकी प्रेरणा थी निवेदिता। श्री असित कुमार हलदार और श्री नन्दलाल बसु को निवेदिता ने अनिवार्यपूर्वक 'अजंता' भेजा। वहाँ उनके रहने, खाने-पीने की व्यवस्था की और चित्र बनाने के लिए प्रोत्साहित किया। इससे श्री हलदार और श्री नन्दलाल बसु की शिल्पशैली, चित्रशैली को नई दिशा प्राप्त हुई।

नन्दलाल बसु

श्री असित कुमार हलदार के 'वीणा' नामक चित्र के रेखा, रंग और उसके सौन्दर्य की निवेदिता ने प्रशंसा की। उन्होंने कहा कि चित्रों का शीर्षक आवश्यक है। भारत में 'सीता' विदेशो की मॅडोना के समान वन्दनीया हैं। निवेदिता ने श्री हलदारजी के 'सीता' चित्र की बहुत प्रशंसा की। उनके 'मुआझिम' पर टिप्पणी करते हुए निवेदिता ने कहा, ''चित्र रंग की दृष्टि से अच्छा है। अजान देने वालों की वेशभूषा भावानुकूल नहीं है। श्री जामिनी प्रसाद गंगोपाध्याय के 'पद्मानदी' के चित्र की निवेदिता ने प्रशंसा की। श्री व्यंकटप्पाजी के 'महाश्वेता' का वीणावादन तथा 'वृक्ष के नीचे संध्यादीप प्रज्वलित करती हुई नारी' के चित्र पर निवेदिता ने व्याख्या लिखी। श्री सुरेन्द्र नाथ गंगोपाध्याय के चित्र की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा, ''लक्ष्मण सेना का पलायन' सर्वोत्कृष्ट कृति है। 'नहूष का रथ' 'विक्रमादित्य का सिंहासन', इन चित्रों की हस्तकला उत्तम है।''

श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय भारतीय शिल्प आन्दोलन के प्रधान प्रचारक थे। वे 'प्रबासी' (बंगाली) और 'मॉडर्न रिव्हयु'(अंग्रेजी) मासिक पत्रिकाओं के संपादक थे। उन्होंने बहुत धन व्यय करके इन दोनों पत्रिकाओं में रंगीन चित्र प्रकाशित किया। जनसामान्य के लिए कम मूल्य में चित्रों की छोटी पुस्तक प्रकाशित की। इससे लोगों में कला के प्रति रुचि जाग्रत हुई। कुछ लोगों ने इस प्रकार से कला के प्रचार का विरोध किया। तब श्री रामानन्दजी ने कहा था – 'भगिनी निवेदिता की प्रेरणा से मैंने कला का प्रचार किया।''

रामानन्द चट्टोपाध्याय

राजा रवि वर्मा के चित्र श्री रामानन्दजी ने पत्रिकाओं में प्रकाशित किये। निवेदिता को यह पसन्द नहीं था। उन्होंने रामानन्दजी में सत्य बोध जागृत करने हेतु वर्माजी के चित्रों की समीक्षा की। निवेदिता का मत था, ''चित्र केवल सुन्दर नहीं, अपितु चित्रों में काल-घटना-बोध का समन्वय
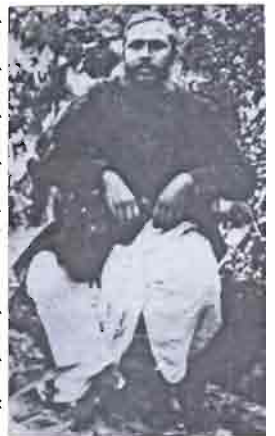
होना चाहिए।'' रवि वर्मा के चित्र इस भाव से काफी दूर थे। निवेदिता के मतानुसार उनके चित्र न तो ठीक से भारतीय शैली के थे, न ही पाश्चात्य शैली के थे। भारतीय शैली और भारतीय कलाक्षेत्र के नवजागरण के उद्देश्य से रवि वर्मा के चित्र अनुपयोगी प्रतीत होते थे। स्वामी विवेकानन्द को रवि वर्मा के चित्र 'यूरोपियनों की नकल' लगते थे। स्वामीजी रवि वर्मा के चित्रों की अपेक्षा बंगाल में दुर्गा प्रतिमा के पीछे रेखांकित चित्र अथवा जयपुर की 'सोनाली चित्रावली' को श्रेष्ठ समझते थे।

भगिनी निवेदिता ने भारतीय स्थापत्यकला, भास्कर्यकला, चित्रकला तथा उत्कृष्ट पाश्चात्य चित्र और समकालीन भारतीय चित्रों पर लेख, समालोचना, और समीक्षा लिखे थे। रामानन्दजी ने उन्हें अपनी पत्रिकाओं में प्रकाशित किया। रामानन्दजी ने कला के द्वारा भारत में नवचेतना जाग्रत करने में निवेदिता को सक्रिय सहयोग किया।

निवेदिता के बालिका विद्यालय में शिल्पकला, हस्तकला, चित्रकला की शिक्षा दी जाती थी। वे कलकत्ता की बालिकाओं के चित्र, रंग-संयोजन देखकर मंत्रमुग्ध हो जाती थीं। निवेदिता स्वयं छोटा-सा वृत्त बनाने से लेकर सम्पूर्ण चित्र बनाना सिखातीं। वे बालिकाओं से चावल के आटे की रंगोली बनवाती थीं, मिट्टी या पत्थर से बनायी जानेवाली मूर्ति या वस्तुओं के साँचे बनाना सिखातीं। निवेदिता हस्तकला आदि के उपकरण बड़े परिश्रम से जुटाती थीं। उसके लिए कई जगह पत्र लिखती थीं। उन्होंने बालिकाओं द्वारा शिल्प-हस्तकला की प्रदर्शनी आयोजित की। उसमें श्रीमाँ सारदादेवी को आमन्त्रित किया। बालिकाओं की कला-निपुणता देखकर वे बहुत आनन्दित होती थीं।

निवेदिता को भावप्रधान आध्यात्मिक चित्र पसन्द थे। उन्हें गृह-शिल्प तथा लोक-शिल्प बहुत प्रिय था। उन्होंने अपने कक्ष में मिट्टी की छोटी मूर्तियाँ, दुर्गापूजा के दीप, प्राचीन चित्र, बुद्धकालीन मूर्तियाँ आदि को सजाकर रखा था। निवेदिता इन्हें देखकर आध्यात्मिक भाव में डूब जातीं।

भगिनी निवेदिता ने भारतीय कला के मर्म को समझा। उन्होंने कलाकारों में राष्ट्रीय भावना जाग्रत कर उन्हें प्रोत्साहित किया। उन्होंने अपने लेखों के माध्यम से भारतीय कला का प्रचार-प्रसार किया। सर्वोपरि भारतीय शिल्पकला आन्दोलन के द्वारा 'भारतीय कला के पुनरुत्थान' के स्वप्न को निवेदिता ने साकार किया। ○○○

कर्तव्यपरायणता को सम्मान और दिव्य दृष्टि

रामकृष्ण संघ में जब कोई दीक्षार्थी संघगुरु से दीक्षा हेतु निवेदन करता है, तो उसे कुछ निर्देशों का पालन करना होता है। किन्तु संघगुरु महाराज ने कभी-कभी अपनी असीम करुणा से ऐसे लोगों को भी दीक्षा प्रदान की है, जिनकी कोई पूर्व तैयारी नहीं थी। ऐसी ही एक दिव्य घटना का यहाँ उल्लेख है।

रामकृष्ण संघ के दशम संघाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज जलपाइगुड़ी आश्रम में पधारे थे। वहाँ दीक्षा का कार्यक्रम था। सामान्यत: जिस दिन दीक्षा होती है, उसके एक दिन पहले दीक्षार्थियों को कुछ आवश्यक निर्देश दिए जाते हैं। दूसरे दिन जब दीक्षार्थी आते हैं, तो आवेदन पत्रों के अनुसार गिनती कर उन्हें मन्दिर में बैठा दिया जाता हैं। दीक्षार्थियों के अतिरिक्त दूसरा कोई उसमें नहीं रहता है। किन्तु उस दिन मन्दिर में एक संख्या अधिक हो रही थी। सब लोग परेशान हो गये कि ऐसा कैसे हुआ और वह व्यक्ति कौन है और कैसे आया? ठीक से निरीक्षण करने पर पता चला कि दीक्षार्थियों में जलपाइगुड़ी की राजमाता के साथ उनकी एक महिला बॉडीगार्ड भी बैठी हुई है, जो दीक्षार्थी नहीं है। पूछने पर उसने बताया, ''मैं हमेशा राजमाता के साथ-साथ ही रहती हूँ। कभी उन्हें अकेले नहीं छोड़ती।'' अब इस समस्या का क्या किया जाय? किन्तु महाराज ने कहा, ''ठीक है, इसकी भी साथ में दीक्षा होगी।'' महाराज कर्तव्यपरायण व्यक्ति को सम्मान देते थे।

ऐसी ही एक अलौकिक घटना सिल्चर में घटी थी। दीक्षा के पूर्व दिन महाराजजी दीक्षार्थियों को दीक्षा-सम्बन्धी निर्देश देने के लिये बैठे हुए थे। आवेदन-पत्रों के अनुसार कक्ष में बैठनेवाले दीक्षार्थियों की संख्या भी ठीक ही थी। किन्तु कुछ बताने के पहले ही महाराज ने कहा, ''यदि किसी की दीक्षा पहले हो चुकी है, तो वे खड़े हो जाएँ।'' कोई भी नहीं उठा। महाराजजी ने पुन: जोर से अपनी बात दोहराई। किन्तु तब भी कोई नहीं उठा। तीसरी बार बोलने पर भी कहीं से कोई हलचल नहीं दिखी। तब महाराज ने अपने सचिव स्वामी प्रमेयानन्द महाराजजी को बुलाकर कहा, ''कह दो, इनमें से किसी की दीक्षा नहीं होगी।'' उसके बाद उनके सचिव महाराज ने हाथ जोड़कर कहा, ''आप क्यों सबकी दीक्षा में बाधा डाल रहे हैं, कृपया उठ जाइये।'' तब देखा गया कि एक प्रौढ़ महिला उठकर बाहर निकल गयीं। इसके बाद महाराज ने सबको यथाविधि दीक्षा प्रदान की। ○○○

सारगाछी की स्मृतियाँ (६०)

स्वामी सुहितानन्द

स्वामी प्रेमेशानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के उपाध्यक्ष हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराजजी के साथ हुए वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य उपाध्यक्ष महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और वाराणसी के रामकुमार गौड़ ने किया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

३०-१-१९६१

महाराज – ज्ञानयोग की एक पुस्तक है। उसमें सभी बातें अत्यन्त सुन्दर ढंग से समझाई गई हैं। पंचदशी में इसका उदाहरण नहीं मिलता। स्वामीजी ने विज्ञान के माध्यम से – रसायन शास्त्र की तरह इसे सुस्पष्ट दिखा दिया है। राजयोग में 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' की जैसी व्याख्या है, गीता में भी वैसी व्याख्या नहीं है। किन्तु गीता एक आनन्दप्रद ग्रन्थ है। इसे कर्मप्रधान कोई कहता है, कोई ज्ञानप्रधान कहता है, फिर कोई कहता है योगप्रधान। गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'योगशास्त्रे' कहा गया है। किन्तु गीता का प्रतिपाद्य विषय है – आत्मज्ञान-पद्धति की दृष्टि से योग। दिखाओ, गीता में कहाँ ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई बात कही गई है। ध्यानयोग, भक्तियोग, सबका ही अन्तिम लक्ष्य मुक्ति अथवा आत्मज्ञान का उपदेश है।

यदि तुम स्वामीजी का 'विवेकानन्द साहित्य' पूर्णत: गहनता से अध्ययन कर सको, तो तुम राजा (ज्ञानी) हो जाओगे। इसमें तुम्हें सभी बातें मिलेंगी। यहाँ तक कि इतिहास, भूगोल भी मिलेगा। किन्तु लक्ष्य ठीक होना चाहिए। नाम-यशप्राप्ति या व्याख्यान देने के लिये नहीं।

जन-सामान्य की ऐसी धारणा है कि वैकुण्ठलोक है। वहाँ भगवान रहते हैं। लक्ष्मीजी उनकी चरण-सेवा करती हैं। किन्तु भगवान ने स्वयं अपने मुख से कहा है –

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।७.७।।
नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।५.१५।।

गीता में कहीं भी बाह्य संन्यास की बात नहीं है, केवल यह कहा गया है कि भीतर ठीक रखो। घर-बार छोड़ने की बात कहीं भी नहीं है, तुम जिस परिवेश में हो, उससे अनासक्त होओ, उदासीन बनो –

बाह्यर्स्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।।५.२१।।

प्रश्न – गीता के साथ स्वामी विवेकानन्द जी के उपदेशों की समानता कहाँ हैं?

महाराज – गीता में जो बाते हैं, उसे तुम कहीं भी नहीं पाओगे। क्योंकि यह तो बहुत दिनों के अनुसन्धान का परिणाम है। उपनिषदों के मंथन से गीता की उत्पत्ति हुई है। यह विभिन्न कालों के मनीषियों का संचित संग्रह है। गीता के पश्चात् दीर्घ काल तक भारत में दूसरा कुछ नया उत्पन्न नहीं हुआ। महापुरुषों ने आकर गीता का ही कुछ अंश-विशेष लेकर जगत को जगाकर चले गए। किन्तु इस बार यह बिलकुल ही नई बात हुई है। ठाकुर ने समग्र गीता को अपने जीवन में आचरण करके दिखाया है और स्वामीजी ने वैज्ञानिक सिद्धान्तों की सहायता से गीता की व्याख्या करके प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह व्यावहारिक है, इसे मुक्तकंठ से प्रचार किया।

भारत ने अब जागरण प्रारम्भ कर दिया है। चतुर्दिक कैसा द्रुत परिवर्तन हो रहा है ! समस्त शूद्र विकास कर रहे हैं। चतुर्दिक तहस-नहस और तोड़-फोड़ हो रहा है। इसमें से ही नवीन भारत निकलेगा। सौ वर्षो बाद भारत का वर्तमान इतिहास देखकर बिल्कुल चकित हो जाओगे – देश में क्या हो गया था !

स्वामीजी ने कहा है – उपनिवेशों के लोग उन्मादी होते हैं, जैसे अमेरिका ! स्वामीजी जब पहली बार वहाँ गए, तो वे लोग तुरन्त साधु बन गए। दूसरी बार जाकर उन्होंने देखा, तो वे सब शत्रु हो गए हैं। किन्तु वहीं इंग्लैड के लोग बहुत समझदार होते हैं। पहले तो वे सहज ही कुछ स्वीकार नहीं करते, किन्तु एकबार जिसे स्वीकार कर लेंगे, फिर उसे नहीं छोड़ेंगे। माँ ने कहा था, पूर्वी बंगाल के लोग

शेष भाग पृष्ठ ४८३ पर

निवेदिता की भारतभक्ति तथा निःस्वार्थता

दिनेश चन्द्र सेन

(लेखक ने १९२३ ई. में प्रकाशित बँगला ग्रन्थ 'घरेर कथा ओ युगसाहित्य' में भगिनी निवेदिता विषयक अपने कुछ मूल्यवान संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इन संस्मरणों का सम्बन्ध उनके जीवन के अन्तिम दो वर्षों से है। उनकी जीवनियों के अनुसार १९०९ ई. के २५ जुलाई से दिनेश बाबू अपने ग्रन्थ बँगला भाषा तथा साहित्य विषयक ग्रन्थ के सम्पादन हेतु प्राय: प्रतिदिन ही निवेदिता के पास जाया करते थे। इस कार्य में करीब एक साल लग गया था। ग्रन्थ की भूमिका में लेखक ने भगिनी के नाम का उल्लेख न करते हुए ऐसा लिखा है, "To another European friend also, whose name I am not permitted to mention, I am much indebted." हम 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिये स्वामी विदेहात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ उस लेख का एक प्रामाणिक अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। सं.)

दिनेश चन्द्र सेन

(कलकत्ते आकर) मेरी आर्थिक स्थिति तथा स्वास्थ्य में काफी सुधार हो गया था। पुस्तकें भी अनेक लिखी जा चुकी थीं। 'बँगला भाषा और साहित्य' से मुझे काफी आय हुई थी। ... उसके बाद भी मैंने 'रामायणी कथा', 'सती', 'बेहुला', 'कुश-ध्वज', 'जड़भरत', 'सुकथा' आदि अनेक पुस्तकें लिख डाली थीं। इनमें से हर पुस्तक सुपाठ्य हुई थी। अन्य पुस्तकों की भी अच्छी बिक्री हो रही थी। विश्वविद्यालय द्वारा रीडर नियुक्त होने तथा 'बंगभाषा-परिचय' संकलित करने से मुझे कई हजार रुपये मिले थे।... रीडर होने के बाद पहले साल (१९०७ ई. में) मैंने अंग्रेजी में 'बँगला भाषा और साहित्य का इतिहास' लिखना आरम्भ किया। कार्य पूरा हो जाने के बाद मैंने उसे दो लोगों को दिखाया था।... उनमें विशेष उल्लेखनीय थीं – मिस मार्गरेट नोबल, जो बंगाल में 'निवेदिता' नाम से ही अधिक परिचित थीं। हमारे कलकत्ते के मकान के पास ही बोसपाड़ा लेन (अब 'निवेदिता लेन') में उन्होंने एक छोटे-से दुमंजले मकान को किराये पर लेकर बालिकाओं के लिये एक पाठशाला की स्थापना की थी।

एक दिन सुबह मैंने उनसे मिलकर उस पुस्तक को उन्हें दिखाने (सम्पादन) का प्रस्ताव रखा, जिसे उन्होंने तत्काल स्वीकार कर लिया। मैं बोला, "पुस्तक काफी बड़ी है।" "तो भी, जब मैंने कह दिया है, तो देख लूँगी" – यह कहकर उन्होंने मुझे हँसते हुए विदा किया।

राजनैतिक दृष्टि से निवेदिता चरमपन्थी थीं। मेरे साथ पहली बार भेंट होने के बाद से वे मेरे साथ राजनीति पर चर्चा करना जरा भी पसन्द नहीं करती थीं। वे मुझे डरपोक, कायर, स्त्रियों से भी दुर्बल आदि कहकर मेरा तिरस्कार किया करती थीं – राजनीति-विषयक मेरे कुछ भी बोलने पर क्रोधपूर्वक कहतीं, "दिनेश बाबू, वह आपका क्षेत्र नहीं है; उस विषय पर मैं आपके साथ बिल्कुल भी बातें नहीं करूँगी।"

परन्तु इसके बावजूद, वे असाधारण परिश्रम के साथ मेरी पुस्तक को पढ़ने लगीं। ऐसी बात नहीं कि उन्हें बीच-बीच में अंग्रेजी मुहावरों से सम्बन्धित भूलें न मिलती हों, तथापि मोटे तौर पर वे कहतीं, "आपकी अंग्रेजी अच्छी है।" भावों को लेकर मेरा उनके साथ निरन्तर तर्क-वितर्क और विरोध चलता रहता था; इस विषय में उनके विचार इतने दृढ़ थे कि प्रतिकूल होने पर वे किसी भी हालत में मेरे विचार को मानने के लिये राजी नहीं होती थीं। समस्या यह थी कि हिन्दू समाज से जुड़ी हुई बातों में भी, मुझे उन्हीं का मत स्वीकार करना पड़ता था।

धनपति सौदागर की स्त्री खुल्लना को बकरा रखने के लिये वन में भेजा गया था – इस अपराध में बिरादरी के लोगों ने निर्णय लिया कि वे उसके हाथ का नहीं खायेंगे। – "या तो तुम्हें विष पीकर सबके समक्ष उसके चरित्र की शुद्धता प्रमाणित करनी होगी, या फिर एक लाख रुपये दण्ड देकर ही उसे घर में रखा जा सकेगा, अन्यथा हम लोग तुम्हें समाज से बाहर निकाल देंगे।" मैं धनपति के विषय में लिख रहा था, अत: इन बातों को भला कैसे छोड़ सकता था? परन्तु निवेदिता जिद कर बैठीं, "इसे निकालना ही पड़ेगा।" नारीजाति का हठ – कितना भयंकर होता है, यह मैं भला कैसे समझाऊँ? उनकी युक्ति यह थी – "उसकी सौत ने उसे बलपूर्वक बकरे को वन में रखने के लिये भेजकर उस पर अन्याय किया, सोने के लिये उसे ढेंकीवाला कमरा दिया और आधेपेट खिलाकर उस पर चरम अत्याचार किया। सामाजिक न्यायाधीशों ने इसके लिये लहना को कोई सजा न देकर, उल्टे निरपराध पीड़ित खुल्लना के लिये ही दण्ड की व्यवस्था की। यह कैसा समाज है? आपकी कहानी में यदि ऐसी बात हो, तो दुनिया भर के लोग इसे 'काजी का

निर्णय’ कहकर आप लोगों की हँसी उड़ायेंगे – नहीं, नहीं, नहीं – इस बात को आप नहीं रख सकते, इसे कहानी से निकाल दीजिये।’’ मैंने कहा, ‘‘हमारे देश की स्त्रियों के चरित्र-मर्यादा का आदर्श भिन्न प्रकार का है – जिस मापदण्ड से यहाँ का समाज चलता है, उसे मैं आपको Common Sense (सहज-बुद्धि) के द्वारा नहीं समझा सकूँगा। मान लीजिए कि एक संगीतज्ञ अपनी वीणा के तारों को सुर में बाँधकर कहीं रख दे और यदि हवा लगकर उसका कोई तार थोड़ा-सा भी ढीला हो जाय, तो वादक उसे सहन नहीं कर सकेगा; जब तक उसके कानों में जरा-सी भी बेसुरी आवाज आयेगी, तब तक वह कोई राग-रागिनी नहीं बजायेगा। हमारे सामाजिक विधान में स्त्री को देवी के समान पूज्य माना जाता है, अत: उन्हें सभी तरह के दोषों तथा कलंकों के ऊपर होना चाहिये – उनके विषय में जरा भी कोई प्रतिकूल बात रही; तो उनके पति, पुत्र तथा सम्बन्धी लज्जा से सिर झुका लेंगे, इसी कारण श्रीराम ने सीताजी को निरपराध जानते हुए भी वनवास दिया था। यहाँ पर न्याय-अन्याय का कोई प्रश्न नहीं उठता – कौस्तुभ-मणि में भी यदि सूत के बराबर भी दाग रहा, तो उसका मूल्य घट जाता है। स्त्री को फैशन के किसी पोशाक के समान सँभालकर रखना सामाजिक जीवन के लिये सुविधाजनक – यहाँ तक कि न्यायसंगत है या नहीं – यह मैं नहीं जानता। स्त्रियाँ जो जौहर का व्रत लेकर – सती के रूप में सजकर अग्नि में जलकर मर जाती थीं, वह भी इसी आदर्श की पवित्रता के लिये था – ‘सीजर की पत्नी को सन्देहों के परे होना चाहिये’, इसी कहावत के अनुकूल हमारे सामाजिक आदर्श की भी सृष्टि हुई है! न्याय-अन्याय की सीमा तो काफी नीचे की बात है। एक जाति यदि किसी एक वस्तु को खूब बड़ा समझे, इतना बड़ा समझे कि जागतिक व्यावहारिक नीति वहाँ तक न पहुँच सके, यदि उसे एक ऐसे इन्द्रजाल के रूप में देखे, जो फूल का भी भार न सहन कर सके, तो भाव के राज्य में वह एक बड़ी बहादुरी है – आप लोगों के समाज में एक बुद्धिसंगत जीवनयात्रा चलाने के लिये वह सुविधाजनक तथा मोटे तौर पर न्यायसंगत है, परन्तु इस देश का काव्य, जीवन तथा समाज – सब कुछ एक विशेष भावना पर आधारित है, उस भावना की जादुई छड़ी हाथ में रखे बिना इस समाज-मन्दिर में आरती देखने हेतु प्रवेश का अधिकार नहीं मिलता।’’

इसी प्रकार किसी बात को लेकर हम लोगों के बीच तर्क छिड़ जाता। सम्भव है कि दो दिन तर्कयुद्ध में चले गए और पुस्तक की एक पंक्ति भी नहीं पढ़ी गयी। निवेदिता अपनी जिद को पकड़े रहने के लिये कभी-कभी इतनी कठोर हो जातीं कि कह उठतीं, ‘‘दिनेश बाबू, मैं सत्य कहती हूँ, यदि आप इस अंश में परिवर्तन नहीं करेंगे, तो मैं यह पुस्तक आगे नहीं पढ़ूँगी।’’ मैं हार मान लेता और उन्हें सन्तुष्ट करने हेतु थोड़ा-सा परिवर्तन कर लेता, परन्तु अपने भाव के साथ न मिलने पर वे ठहर जातीं, जरा भी आगे बढ़ने से मना कर देतीं – हाथी दलदल में फँस जाने पर जैसा होता है, ठीक वैसे ही वे किसी एक अंश पर जाकर ठहर जातीं। वे इस बात को भूल जातीं कि ग्रन्थ में व्यक्त मतों के लिये मैं उत्तरदायी हूँ, मैंने उन्हें केवल अंग्रेजी भाषा सुधारने का भार दिया है। अस्तु।

उनकी नि:स्वार्थ सेवा

किसी कार्य का भार स्वीकार करने के बाद वे इस बात को याद नहीं रख पातीं कि वह दूसरे का कार्य है। वे उसे पूरी तौर से अपना समझकर मेहनत करतीं – ऐसे परिश्रम को कोई मूल्य देकर नहीं खरीद सकता। किसी-किसी दिन उन्होंने सुबह से लेकर रात के दस बजे तक परिश्रम किया है, इस दौरान उन्होंने और मैंने मात्र भोजन के लिये ५-१० मिनट निकाले हैं। ऐसे नि:स्वार्थ, आत्मप्रभाव-रहित, प्रतिदान के विषय में केवल पूर्णत: उदासीन ही नहीं, अपितु पूर्णत: विरोधी कार्य में भी तन्मय हो सकें – ऐसे व्यक्ति मेरे देखने में अधिक नहीं आये। उनमें मुझे निष्काम कर्म का जो आदर्श देखने को मिला, उसके बारे में मैंने केवल गीता में ही पढ़ा था – उनके भीतर यह भाव पूर्ण रूप से देखने को मिला। ...

भारतीय संस्कृति की गहरी समझ

अंग्रेजी संशोधन का कार्य तो अति अल्प हुआ – अधिकांशत: भाव का ही संशोधन हुआ। कविता को समझने की उनमें असाधारण क्षमता थी। मैंने पुराण से शिव के विषय में एक पद्यांश उद्धृत किया था, जिसमें लिखा है, ‘‘हे शिव, तुम भिक्षा माँगकर क्यों खाते हो? भिक्षा बड़ी ओछी वृत्ति है, किसी दिन कुछ जुटता है, तो किसी दिन खाली बर्तन लिये लौट आते हो, तुम खेती करके धान पैदा करो, तो तुम्हारा यह कष्ट नष्ट हो जाएगा। हे प्रभो, तुम कितने दिन नंगे रहकर या बाघ की छाल पहनकर बिताओगे? यदि तुम कपास उगाकर रूई बना लो, तो उसका वस्त्र पहनकर तुम्हें कितना सुख मिलेगा!’’

मेरे मन में जरा भी नहीं आया कि इस भाव पर आधारित एक पद्य के पीछे कोई अपूर्व प्रेरणा हो सकती है। परन्तु वे उस अंश को पढ़कर खुशी से उछल पड़ीं और बारम्बार – 'अद्‌भुत', 'अद्‌भुत' – यही कहने लगीं। मैं बोला, "भगिनी, इसमें आपको ऐसी क्या वस्तु मिल गयी है कि आप वैसी ही हो गयी हैं मानो किसी दीन-दरिद्र को सहसा कोई साम्राज्य मिल गया हो!" उस कविता से दृष्टि हटाये बिना ही निवेदिता ने अपने एक हाथ को दूसरे से दबाया और आनन्द एवं गर्व से उत्फुल्ल नेत्रों के साथ बोलीं, "ओ दिनेश बाबू, यह तो एक बड़ी 'अद्‌भुत' चीज है!" मैंने सोचा कि लगता है इस पगली औरत का सिर घूम गया है। उन दिनों उनके यहाँ एक अन्य विदेशी महिला भी रहा करती थीं, मुझे उनका नाम भूल गया है।[१] अगले दिन उन्हें एकान्त में पाकर मैंने उनसे पूछा, "मेरी समझ में नहीं आया कि शिव की इस कविता में निवेदिता को ऐसा क्या 'अद्‌भुत' भला मिल गया है। आपने भी सुना है क्या?" वे बोलीं, "सुना है कि साधारण भक्त तथा उपासक अपने देवता से सहायता के लिये प्रार्थना किया करते हैं, 'प्रभो, मुझे धन दीजिये, यश दीजिये, मान दीजिये, आरोग्य दीजिये' – वे अनेक प्रकार के वरों के लिये प्रार्थना करते रहते हैं, परन्तु उस कविता में भक्त अपने उपास्य के प्रति प्रेम का अनुभव करते हुए स्वयं को पूरी तौर से भूल गये हैं, अपने सुख की बात उन्हें याद नहीं है, उल्टे प्रभु के कष्टों को देखकर ही उनका हृदय द्रवित हो गया है; उन्हें इसी बात की चिन्ता है कि किस प्रकार प्रभु के कष्ट दूर किये जायँ।"

तब जाकर मैं भगिनी निवेदिता का मनोभाव समझ सका। यदि कभी मैं लापरवाही से भी, ग्राम्य पद्यों के प्रति अश्रद्धापूर्वक कुछ कह बैठा, तो उसके लिये मुझे निवेदिता की फटकार सहनी पड़ी है। वे कहतीं, "ग्राम्य गीतों की अपरिमार्जित भाषा के बीच भी कई बार उतने उदात्त तथा वास्तविक कवित्व के दर्शन हो जाते हैं, जो बड़े-बड़े नामधारी महाकवियों की रचनाओं में नहीं मिलते। आप किसानों के गीतों की अवहेलना मत कीजियेगा, उनकी मधुर-स्वर-लहरी में राग-रागिनी भले ही न हो, उनमें करुणा का भाव होता है; उनकी सरल बातों में शाब्दिक ज्ञान न हो, तो भी वे प्राणवान हैं; और उनके कुटीरों में सोने-चाँदी के खम्भे न भी हों, तो भी उनके आँगन में पारिजात तथा मल्लिका फूलों के पौधे हैं।"

[१]. सम्भवत: भगिनी देवमाता

पुस्तक पढ़ते समय वे मेरे प्रति कितने ही प्रकार के मत व्यक्त करती रहती थीं, जिनमें से अनेकों पर मैं नाराज हो सकता था, परन्तु हुआ नहीं; क्योंकि मुझे उनकी कटु उक्तियों के भीतर भी उनके पुष्प-कोरक के समान अति कोमल सहृदयता से परिपूर्ण प्राणों के दर्शन हुआ करते थे। कभी वे कहतीं, "दिनेश बाबू, आपके समान बुद्धू मैंने संसार में दूसरा नहीं देखा; मैं स्त्री हूँ, तो भी आपकी निर्बुद्धिता पर हैरान रह जाती हूँ।" फिर कभी पढ़ते-पढ़ते एक अन्य स्थान पर पहुँचकर वे कहतीं, "दिनेश बाबू, आप सचमुच ही एक प्रधान कवि हैं; आपका लेखन गद्य भले ही हो, परन्तु आपकी भाषा एक सच्चे कवि की है। आपमें अपूर्व साहित्यिक प्रतिभा है।" कभी तीक्ष्ण तिरस्कार और कभी अतिरंजित प्रशंसा के द्वारा विभूषित होकर, मैं दोनों के बीच उदासीन भाव से सब कुछ चुपचाप सुनता जाता। परन्तु कोई बाहर का व्यक्ति आ जाय, तो जिन दो-चार शब्दों में वे मेरा परिचय देतीं, उनसे मैं अवश्य ही गर्व का अनुभव करता। एक बार अपने किसी अंग्रेज मित्र के आने पर उन्होंने मेरा परिचय देते हुए कहा था, "बंगाल प्रदेश के सामाजिक तत्त्व को ये जितनी भलीभाँति जानते हैं, इस अंचल के ग्राम्य कुटीरों से लेकर राजमहलों तक – सभी स्थानों का इतिहास, जो इन्होंने फटे-पुराने पोथी-पत्रों से ढूँढ़ निकाले हैं, इस क्षेत्र में इनकी बराबरी करनेवाला दूसरा कोई नहीं है।" आदि आदि।

हम लोगों के साथ ब्रह्मचारी गणेन भी रहा करते थे, जिनकी टूटी-फूटी अंग्रेजी को लेकर मैं प्राय: ही उपहास किया करता था। निवेदिता कहतीं, "यह तो मुझे स्वीकार करना ही पड़ेगा कि गणेन अंग्रेजी में अपने मन के भाव व्यक्त कर सकता है, और जो नहीं कर पाता, वह भी तो उसके हाथ-मुख के हाव-भाव से समझा ही जा सकता है।" निवेदिता को बँगला भाषा की अच्छी समझ थी, गणेन अपने भाषा-ज्ञान की गहनता का बोध करने के लिये ही बीच-बीच में अंग्रेजी बोला करते थे।

मेरी पुस्तक में वैष्णव कविता तथा आगमनी गीतों की प्रशंसा पढ़ते-पढ़ते वे प्राय: ही मुझसे अनुरोध करतीं कि मैं किसी वैष्णव गायक को ले जाकर उन्हें कीर्तन-गान सुनवाऊँ। रास्ते से एक आगमनी गानेवाले वैष्णव भिखारी को लाकर मैंने उन्हें भजन सुनवाये थे। "गिरि, गौरी आमार एसेछिलो" (हे हिमालय, मेरी गौरी आयी थी) – यह भजन सुनकर उन्होंने अपने अश्रुसिक्त कण्ठ के साथ उसे एक रुपये का
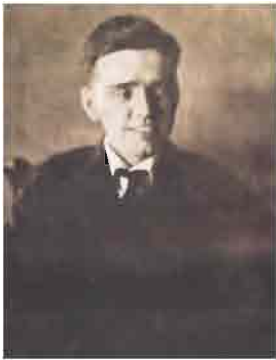
फ्रेंक अलेक्जेंडर

पुरस्कार दिया था।

फ्रैंक अलेक्जेंडर

बीस वर्ष की आयु के, फ्रैंक अलेक्जेंडर नामक एक अमेरिकी तरुण कुछ दिनों के लिये उनके यहाँ[२] अतिथि के रूप में ठहरे हुए थे। ये अतिशय असाधारण प्रतिभा के धनी थे। उनकी इस अल्प आयु में ही, मैंने उनमें हिन्दू धर्म तथा हिन्दू साहित्य को समझने की जो क्षमता देखी, वह किसी भी विदेशी के लिये विस्मयकर थी। निवेदिता कहतीं, ''इस बालक की तीव्र गति से लिखने की क्षमता को देखना नेत्रों के लिये भी एक आनन्द का विषय है। टाइपराइटर भी इसके लेखन की गति के साथ ताल मिलाकर नहीं चल पाता।'' अलेक्जेंडर ने स्वामी विवेकानन्द की जीवनी के लेखन द्वारा, अपनी अत्यन्त कर्मठ तथा प्रतिभाशाली जीवन के बारे में बड़ी आशा देकर भी अपनी युवावस्था में ही संसार से विदा ले ली है। भगिनी क्रिस्टिन भी निवेदिता की एक संगिनी थीं, जिनका स्वभाव मिश्री के समान मधुर था – वे अमेरिका से आयी थीं।

निवेदिता जब मेरी पाण्डुलिपि को पढ़ते-पढ़ते खुश हो जातीं, तो बीच-बीच में कह उठतीं, ''दिनेश बाबू, राजनीति के क्षेत्र में मेरा आपके साथ घोर मतभेद है। जब उस दृष्टि से आपके विषय में विचार करती हूँ, तो आपकी कायरता – मुझे न केवल लज्जित, अपितु मार्मिक पीड़ा भी प्रदान करती है; परन्तु इसके बावजूद मुझे आप अच्छे लगते हैं, बताऊँ क्यों? आपने बिना किसी आडम्बर के देश के लिये इतना परिश्रम किया है और देश के प्रति इतने ममत्व का परिचय दिया है कि अपने अनजाने ही आप एक सच्चे देशभक्त होने का दावा करने की योग्यता रखते हैं, इसीलिये मैं आपको पसन्द करती हूँ।''

वे अक्सर ही 'कायर' कहकर मेरी हँसी उड़ाया करती थीं। एक दिन सचमुच ही मुझे उनके समक्ष अपनी कायरता को दिखाकर लज्जित भी होना पड़ा था। उस दिन संध्या के समय, गणेन, निवेदिता और मैं बागबाजार के रास्ते से होकर गंगाजी के तट पर घूमने गये थे। मैं सबसे आगे था, उसके बाद निवेदिता और सबके पीछे गणेन। उसी समय एक क्रुद्ध साँड़ अपने सींग हिलाते हुए दौड़कर मेरी ओर आया। अपने प्राणों के भय से मैं किनारे हट गया और भागकर आत्मरक्षा की, परन्तु स्वयं पलायन करके मैं निवेदिता को साँड़ के सींगों के सामने छोड़ रहा हूँ – तब इतना सोचने का मेरे पास भला समय ही कहाँ था! गणेन ने तेजी से आगे बढ़कर साँड़ को भगा दिया। इसके बाद हम तीनों फिर एकत्र हुए। तब निवेदिता ने तीव्र व्यंग्य के स्वर में हँसते हुए कहा, ''आपने आज पुरुष-जाति का सिर ऊँचा कर दिया है। एक असहाय महिला को साँड़ के सामने छोड़कर अपनी प्राणरक्षा की है; आज का यह कार्य आपके कीर्ति-स्तम्भ के समान बना रहेगा।'' इसके बाद उनके चेहरे से हँसी का भाव लुप्त हो गया और वे थोड़े तीखे स्वर में बोलीं, ''दिनेश बाबू, आपको जरा भी शर्म नहीं आयी?'' मेरा यह कार्य उचित नहीं हुआ था, इसीलिये अन्य प्रसंगों के समान उस समय विवाद में न पड़कर मैं चुप रह गया।

उनका भ्रातृभाव

रास्ते पर चलते समय वे अंग्रेज साहबों की जरा भी परवाह नहीं करती थीं, परन्तु स्थानीय लोगों के प्रति खूब सम्मान दिखाती थीं। एक दिन मैं उनके साथ ट्राम में जा रहा था, उसी समय एक अंग्रेज आकर उनके बिल्कुल निकट बैठ गया। इस पर उन्होंने अपनी आँखें तरेरते हुए ऐसी नाराजगी व्यक्त की कि साहब ने सिर झुका लिया और उठकर दूसरे बेंच पर चला गया। निवेदिता मेरे और भी निकट खिसक आयीं और हँसते हुए बातें करने लगीं। उन्होंने भारतवर्ष के प्रति स्वयं को निवेदित कर दिया था और समस्त भारतवासियों को 'भाई' के रूप में वरण कर लिया था। इसी कारण उन्होंने 'भगिनी निवेदिता' नाम ग्रहण किया था। पाश्चात्य जगत् के लोग इस देश के निवासियों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं – यह बात उनके लिये पूर्णत: असह्य थी।

उनकी खड़दह यात्रा

जिस दिन उन्होंने मुझसे सुना कि खड़दह में कभी १२०० मुण्डों तथा १००० मुण्डियों ने वीरभद्र के समक्ष आत्मसमर्पण किया था, उसी दिन से वे मुझसे खड़दह ले जाने के लिये तकाजा करने लगीं। बौद्ध भिक्षु लोग ही वे मुण्डे-मुण्डियाँ थे। जब बंगाल से बौद्ध धर्म की विजय पताका श्रीहीन तथा लांछित हुई और उस धर्म के पदाधिकारी इस अंचल से पलायन करने लगे, तब बौद्ध भिक्षु तथा भिक्षुणियों का अध:पतन तथा दुर्दशा अपनी चरम सीमा तक जा पहुँची थी। विजय के मद में हिन्दू समाज ने इनके

२. ये पड़ोस में स्थित ८ नं. बोसपाड़ा लेन के मकान में रहते थे।

विरुद्ध अपने द्वार पूरी तौर से बन्द कर दिये थे। तब इन पतितों के समूह को प्रभु वीरभद्र ने वैष्णव-धर्म में दीक्षित करके आश्रय प्रदान किया। जिस स्थान पर उन लोगों ने शरण की याचना की और जिस स्थान पर दयालु वैष्णव प्रभु ने शरणागतों को आश्रय प्रदान किया, उसी स्थान पर उन मुण्डे-मुण्डियों की कृतज्ञता की अभिव्यक्ति के रूप में पिछले करीब ३५० वर्षों से एक वार्षिक मेला लगा करता था। कुछ वर्षों से वह मेला लगना बन्द हो गया था।

फाल्गुन माह में एक दिन दोपहर के समय निवेदिता को साथ लेकर मैं तथा गणेन एक नाव में खड़दह की ओर रवाना हुए। हम लोग और भी कई बार इसी प्रकार गंगाजी में परिभ्रमण कर चुके थे। हम लोग १० बजे के पूर्व ही खाना-पीना सम्पन्न करके निकलते और संध्या के समय बागबाजार लौटते। खड़दह जाने के दिन उनके आनन्द की सीमा न थी! मुझसे बोलीं, "जानते हैं, मैंने उस जगह को क्या नाम दिया है? – वह है बंगाल में बौद्ध धर्म का समाधिक्षेत्र। उन लोगों ने मेले को बन्द क्यों कर दिया? एक ऐसे इतिहास-प्रसिद्ध घटना के स्मृति-उत्सव को क्या इसी प्रकार मिटा देना उचित है?"

कलकत्ते से निकलते ही गंगाजी की हवा जठराग्नि को प्रदीप्त कर देती है। हम लोगों ने जलपान की व्यवस्था करके उसे अपने साथ ले लिया था। उनका सदुपयोग किया गया। करीब ३ बजे हम लोग खड़दह के घाट पर पहुँचे। एक मेम साहब के साथ दो बंगाली सज्जनों को घाट से नौका लगाते देखकर गाँव के लोगों के विस्मय का कोई ठिकाना न था। बड़े-बड़े जनेऊ धारण किये लम्बोदर गोसाई लोग घाट पर आकर कुतूहल के साथ हम लोगों की ओर देखने लगे। निवेदिता ने पहले ही हम लोगों को अपना परिचय देने से मना कर दिया था। दर्शकों ने सोचा था कि हम लोग कुछ मिनटों के लिये अपनी नाव को घाट पर रोकने के बाद लौट जायेंगे। परन्तु जब निवेदिता सचमुच ही घाट पर नीचे उतरीं, और जब लोगों के साथ घनिष्ठतापूर्वक बातें करते हुए हम लोग गाँव के भीतर से होकर जाने लगे, तब तो नित्यानन्द के वंशधर लोग भी टिड्डियों के दल के समान हम लोगों के पीछे-पीछे चल पड़े। इस अपूर्व शोभायात्रा को देखकर निवेदिता मुख दबाकर हँसने लगीं। अनुसरण करनेवालों में से कोई-कोई खाँसकर हम लोगों का ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा करने लगे और किसी ने गमछे से अपना मुख पोंछने के बाद बड़े साहस के साथ मुझसे पूछा, "महाशय, ये कौन हैं?"

इस प्रश्न का उत्तर देकर मानो मैं उन लोगों के जीवन-मृत्यु की समस्या का समाधान करनेवाला हूँ, ऐसा भाव लेकर वह विशाल जनसमूह उत्कण्ठा के साथ मेरी ओर देखने लगा। मैं बोला, "वे कौन हैं – यह उन्हीं से पूछिये, वे स्वयं ही दूसरों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह से अपना परिचय दे सकेंगी।" मेरा उत्तर सुनकर निवेदिता इतनी गम्भीर हो गयीं कि किसी को हिम्मत नहीं हुई कि उनसे प्रश्न करे। मैंने एक व्यक्ति से पूछा, "श्यामसुन्दर का मन्दिर कहाँ है?" इतने पर ही सब कृतार्थ होकर दस-बारह लोग एक साथ उत्तर देने लगे। किसी ने हाथ फैलाकर उंगली से संकेत करते हुए उत्तर की ओर प्रत्यक्ष दिखा दिया और कोई-कोई "आइये हमारे साथ" कहकर हमारे मार्गदर्शन का सारा गौरव स्वयं आत्मसात् करने की चेष्टा करने लगे। आतिथ्य के इस अतिरेक में भी बड़ा मजा आ रहा था। श्यामसुन्दर के मन्दिर से संलग्न नाट्य-मन्दिर की सीढ़ियों के ऊपर खड़े होकर जब निवेदिता ने अपना हैट खोलकर रखा और प्रणाम किया, तब वह जनसभा पूर्णत: मुग्ध और विमूढ़ हो गयी। कुछ लोग हिन्दू धर्म के बड़प्पन को अनुभव करते हुए उसे अपने हावभाव तथा शब्दों से अभिव्यक्त करने की चेष्टा करने लगे; किसी-किसी की छाती गर्व से मानो हाथ भर फूल गयी; और एक ने किसी धर्मविद्वेषी युवक की अनुपस्थिति की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए, 'आज यदि वह यहाँ यह दृश्य देख पाता, तो उसकी असार युक्तियों की जड़ पर ही कुठाराघात हो जाता' ऐसा मत व्यक्त करते हुए आनन्दोत्फुल्ल नेत्रों के साथ श्रोताओं की ओर देखकर अपने समर्थन में उन्हें गर्दन हिलाते देखकर बड़ी तृप्ति का अनुभव करने लगा। मैं तथा गणेन – अपने सीने पर सूत्र-रूप में लटक रहे हिन्दू धर्म के गौरव की शुभ्रमहिमा (जनेऊ) को प्रकट करके सीधे मन्दिर के भीतर प्रविष्ट हो गये। पुरोहित को कुछ दक्षिणा देने पर वे कृपालु हुए और हमारे अनुरोध पर नित्यानन्द-प्रभु द्वारा हस्तलिखित भागवत तथा उनकी टूटी हुई लाठी लाकर हमें दिखाने लगे। हमने उन्हें मन्दिर के बाहर लाकर निवेदिता को भी दिखाया। पोथी और लाठी के निमित्त प्रणाम करके उन्होंने पाँच रुपयों की दक्षिणा दी। पुरोहित आनन्द से गद्गद होकर एक 'शिरोपा' (लाल रंग का वस्त्रखण्ड) ले आये और निवेदिता से उसे सिर पर धारण कर लेने को कहा। भगिनी ने अपने हैट को हाथ में लिया और उस लाल वस्त्र को अपने सिर के ऊपर से गले

तक लपेटकर धारण किया। वहाँ उपस्थित लोग आनन्द से हरि-ध्वनि कर उठे। एक व्यक्ति ने आगे बढ़कर कहा, ''यह शिरोपा अति मूल्यवान वस्तु है। कभी श्यामसुन्दर के मन्दिर का यह शिरोपा धारण करके राजा लोग तक स्वयं को धन्य मानते थे, ऐसा मत समझियेगा कि हमने आपको कम गौरव दिया है, यह एक महान् गौरव की चीज है। वैसे अब – 'आप कौन हैं' – यह परिचय देकर हमारी जिज्ञासा को शान्त करें।''

उनके संकेत पर मैंने तथा गणेन ने कहा, ''इनका परिचय देने से क्या आप लोग पहचान सकेंगे? ये एक अंग्रेज महिला हैं, जिन्होंने हिन्दूधर्म ग्रहण करके रामकृष्ण मठ में आश्रय लिया है।'' एक ने कहा, ''तो क्या ये निवेदिता हैं?'' अब तो कुछ भी छिपा नहीं रहा। हिन्दुओं की टोली में से किसी-किसी की आँखें गीली हो गयीं, किसी-किसी का कण्ठ भक्ति से गद्‌गद हो गया और किसी-किसी ने दोनों हाथ जोड़कर निवेदिता को नमस्कार किया। निवेदिता द्वारा विनयपूर्वक विदा माँगने पर पुरोहित बोले, ''ऐसा भला कैसे हो सकता है? प्रसाद लेकर जाना होगा।'' थोड़ी देर बाद रसगुल्लों का एक विशाल ठोंगा आ पहुँचा। उसके नीचे से होकर बहती हुई अजस्र रसधार ने लानेवाले के देह पर पड़कर उसे रसिक बना दिया था। हम दोनों ने भरपेट खाया। भगिनी ने एक खाकर छुटकारा पाया। परन्तु विभिन्न प्रकार के मिश्रित कण्ठों के अनुरोध को स्वीकार करके उन्हें एक रसगुल्ला और भी खाना पड़ा।

संध्या हो जाने पर हम लोग मुण्डे-मुण्डियों के मेले का स्थान देखने गये। निवेदिता ने वहाँ बैठकर अनेक लोगों से मेले के विषय में पूछा और कुछ बातें लिपिबद्ध कर लीं। उनका विशेष अनुरोध था कि मैं उनकी टिप्पणियों का उपयोग करके बौद्धधर्म के इस समाधि-क्षेत्र के विषय में एक लेख लिखूँ। आज अनेक वर्षों के बाद मैं उस विषय पर लिख रहा हूँ, परन्तु उनकी उन टिप्पणियों को देखने का सुयोग मुझे प्राप्त नहीं हुआ।

उनका पुरातत्त्व-बोध

शाम को बागबाजार के घाट पर उतरकर हम लोगों ने अपना सामान निवेदिता के नौकर रामलाल को सुपुर्द किया और उस भ्रमण के विषय में चर्चा करते हुए लौट रहे थे। एक फेरीवाला एक टोकरी में मिट्टी की बहुत-सी गुड़ियों को रखकर बेचते हुए चला जा रहा था। दृष्टि पड़ते ही उन्होंने उसे बुलाया और गुड़ियों को देखकर आनन्द से बिल्कुल अभिभूत हो गयीं। पीले और काले रंगों में रँगी हुई उन गुड़ियों को वह एक पैसे में तीन के दर से बेच रहा था। नारीमूर्ति के सिर पर एक जूड़ा था, जगन्नाथ के समान दो अर्धसमाप्त हाथ थे; हाथों से भी बड़े उसके दो स्तन थे और पाँवों की जगह पर मिट्टी का गढ़ा हुआ शिवलिंग या बेत के मोढ़े के जैसा कुछ था। ऐसी गुड़ियाँ तो गली-गली में सैकड़ों मिलती हैं। बंगाल में शायद ही कोई ऐसा बालक या बालिका होगी, जिसने अपने शैशव काल में ऐसे दस-बीस गुड़ियों को न तोड़ा हो।

उस गुड़िया को हाथ में लेकर वे बोल उठीं, ''अहा, बड़ा अद्‌भुत है!'' क्रमश: वे उसकी ऐसी प्रशंसा करने लगीं कि मेरे मुख से निकल पड़ा, ''आप पूरी पगला गयी हैं क्या? इनमें आपको ऐसा क्या दीख पड़ा है कि रास्ते में खड़ी होकर इस प्रकार की हरकत कर रही हैं? लगता है कि अब यहाँ भी आप खड़दह की ही भाँति भीड़ जुटायेंगी।'' निवेदिता मेरी बात को अनसुनी करते हुए उच्च कण्ठ से केवल ''अति अद्‌भुत, अति सुन्दर, अति आश्चर्यजनक'' आदि कहते हुए अपना मत व्यक्त करती रहीं। उन्होंने एक रुपये में उन सभी गुड़ियों को खरीदकर रामलाल के हाथों में दे दिया। इसके बाद मैंने उनसे विदा ली।

अगले दिन मैंने उनसे पूछा, ''कल उन गुड़ियों को देखकर आपने वैसा क्यों किया था?'' वे बोलीं, ''आप उस बात को नहीं समझेंगे, उनके समान सुन्दर और अद्‌भुत वस्तु पूरे भारत में मेरे देखने में नहीं आयी।'' इतना कहने के बाद वे अति लुब्ध नेत्रों के साथ उनमें से एक को हाथ में उठाकर देखने लगीं। वे जिसे भी ऊपर चढ़ाती हैं, उसका सिर आकाश तक पहुँचाये बिना नहीं छोड़तीं। उनके कथन का कोई तात्पर्य मेरी समझ में नहीं आया।

परन्तु तीन दिनों बाद अपना भाव थोड़ा नीचे आने पर वे हँसते हुए बोलीं, ''दिनेश बाबू, वह गुड़िया मुझे क्यों इतनी अच्छी लगी, सुनेंगे? डॉ. इवांस ने क्रीट द्वीप में ईसा के करीब ३००० वर्षों पूर्व अर्थात् अब से ५००० वर्षों पूर्व की बहुत-सी चीजें खोजीं और उन्हें इंग्लैंड ले गये। इस बार मैं वहाँ जाकर उन सबको देख आयी हूँ। उस संग्रह के भीतर मैं ठीक इन्हीं गुड़ियों के समान मूर्तियों को देख आयी हूँ।''

ईश्वर के प्रति मातृभाव

निवेदिता काली-मन्दिर देखते ही वहाँ प्रणाम करतीं। उन्होंने अपनी 'काली माता' पुस्तक में रामप्रसाद के भजनों

का जो विश्लेषण किया है, वह मानो किसी शाक्त लेखक की ही भक्ति-पुष्पांजलि है। परन्तु एक बार उन्होंने मेरे समक्ष अपने अन्त:करण की एक बात प्रकट की थी, "आप क्या सचमुच ही भगवान को 'माँ' कहकर पुकार सकते हैं?" मैं बोला, "क्यों नहीं? वे (परमात्मा) हमारे मुख के शब्द मात्र नहीं, बल्कि हमारे पिता हैं, हमारी माता हैं। हम लोग अपनी माँ के स्तनपान के साथ ही भगवान के मातृभाव की धारणा करते हुए बड़े हुए हैं। जब हम लोग काली-मन्दिर में जाकर 'माँ-माँ' कहते हुए प्रणाम करते हैं, तो कोई कपटता का अभिनय नहीं करते।" वे बोलीं, "देखिये, यहीं पर प्राच्य और पाश्चात्य मनोभाव में भेद है। मैं किसी भी प्रकार अपने मन में परमात्मा के मातृभाव का अनुभव नहीं कर पाती। उनका पितृभाव ही हम लोगों का आनुवंशिक संस्कार है।"

अन्तिम दर्शन

सर जगदीश चन्द्र बोस के साथ अपनी अन्तिम यात्रा के रूप में दार्जिलिंग जाने के दो माह पूर्व उन्होंने मुझसे पत्थर से निर्मित 'प्रज्ञा-पारमिता' की एक मूर्ति को माँग लिया था। मैंने कहा, "आपको यह मूर्ति देने में मुझे द्विधा का अनुभव हो रहा है। मेरी इच्छा है कि आप इसे मत लें।" वे बोलीं, "मैं आपके समान इतिहासकार के मुख से दादी-माँ की कथाएँ सुनने की आशा नहीं करती।" प्राय: बलपूर्वक ही उन्होंने मुझसे वह मूर्ति ले ली और उसे एक ताक में रखकर प्रतिदिन पुष्प तथा धूप-दीप के साथ बड़े यत्नपूर्वक उनकी सेवा करने लगीं। उनकी मृत्यु के बाद क्रिस्टिन ने मुझसे कहा था, "यह मूर्ति आप तत्काल ले जाइये। क्या बताऊँ, जब से यह मूर्ति इस घर में आयी है, उसी दिन से निवेदिता के मन को कभी शान्ति नहीं मिली।" मैं बोला, "क्यों? यह मूर्ति तो वे सर जगदीश चन्द्र को दे गयी हैं; वे लोग ब्राह्म हैं, उन्हीं को भेज दीजिये।" क्रिस्टिन ने कहा, "ब्राह्म हैं तो क्या हुआ, वे लोग किसी भी हालत में यह मूर्ति लेने को राजी नहीं हैं।" आखिरकार बाध्य होकर मैंने उस मूर्ति को अन्यत्र रखवाने की व्यवस्था की।

ग्रन्थ का प्रकाशन

उनके दार्जिलिंग जाने के कुछ दिनों पूर्व ही अंग्रेजी में मेरा लिखा हुआ 'बँगला भाषा तथा साहित्य का बृहत् इतिहास' ग्रन्थ प्रकाशित होकर आया था। मैंने उसकी दो प्रतियाँ उन्हें भेंट की। उन्होंने मुझे बाध्य किया था कि भूमिका में उनके नाम का उल्लेख न किया जाय। पुस्तकों को देखकर उन्होंने बड़ा ही आह्लाद प्रकट किया था। उनकी अन्तिम बातें अब भी मेरे कानों में गूँज रही हैं। उन्होंने थोड़े करुणापूर्ण स्वर में कहा था, "इस पुस्तक के निमित्त से ही आपके साथ बहुत दिनों तक घनिष्ठ रूप से मिलना हुआ है; हम दोनों ने एक साथ मिलकर इस ग्रन्थ के लिये परिश्रम किया है। अब यह कार्य पूरा हो गया, अत: लगता है, आपके साथ बारम्बार मिलना नहीं हो सकेगा। परन्तु हम दोनों के बीच जिस सौहार्द की सृष्टि हुई है, उसे आप बनाये रखियेगा; यदि आप पूर्ववत् नहीं आये, तो मुझे कष्ट होगा।"

वस्तुत: उनका भगिनी-जनोचित स्नेह जो मेरे लिये कितना मूल्यवान तथा प्रीतिकर था, उसे मैं लिखकर भला कैसे बताऊँ! जिस दिन उनकी मृत्यु का समाचार मिला, उस दिन पूरा बोसपाड़ा लेन ही मुझे एक महाशून्य जैसा प्रतीत हुआ था। बँगला भाषा तथा साहित्य का अनुशीलन करते समय वे अनेक कवियों की यथायोग्य प्रशंसा करतीं, निधूबाबू के गीतों की वे जितनी प्रशंसा करतीं, उतनी तो रामप्रसाद या चण्डीदास की भी नहीं करतीं। ○○○

हे रामकृष्ण तुम कौन हो?

डॉ. गोपेश द्विवेदी

हे रामकृष्ण तुम कौन हो?

सब जीवों की अन्तरात्मा शान्त निश्चल मौन हो ।।
तुम जगत के सृष्टिकर्ता और पालनहार हो ।
तुम सभी के प्राण-रक्षक और तारनहार हो ।।
त्याग-तप संन्यासियों के हृदय-प्राण आधार हो ।
गृहस्थों के सदा रक्षक भव-नाव खेवनहार हो ।।
तुमको हृदय में बोध करना यह सच्चा ज्ञान है ।
सब प्राणियों में भी तुम्हीं यह बोध विज्ञान है ।।
माँ जैसी दया तुममें और प्रेम-पारावार हो ।
विवेकानन्द के गुरु तुम विश्व के आधार हो ।।
जब मन कलुषित होता और दिखता घनान्धकार ।
तब हे प्रभु ! तुम आकर देते ज्ञान-रश्मि अपार ।।
नर के दुख के पल में, आकर देते अपार आनन्द ।
हे रामकृष्ण ! जय रामकृष्ण ! जय हे सच्चिदानन्द !!

आध्यात्मिक जिज्ञासा (२२)

स्वामी भूतेशानन्द

प्रश्न – महाराज ! ठाकुर एक स्थान पर कहते हैं – "जिसका अन्तिम जन्म है, उसे यहाँ आना होगा।" क्या यह कट्टरता की बात नहीं है?

महाराज – हाँ, 'यहाँ' कहने से केवल उनकी ही बात मानो, तो कट्टरता होगी। किन्तु यदि आदर्श की बात मानो, तो कट्टरता नहीं होगी।

– यहाँ 'अन्तिम जन्म' माने जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्ति है। उन्होंने यही तो अर्थ किया है।

महाराज – अन्तिम जन्म माने अब पुनर्जन्म नहीं होगा।

– मुक्ति तो केवल यहीं की बात नहीं है। पहले भी बहुत से लोगों की मुक्ति हुई है, हमलोग विश्वास करते हैं।

महाराज – पहले की बात तो नहीं कह रहे हैं। यहाँ आना होगा, अर्थात् वर्तमान की बात कह रहे हैं, भविष्य की बात कह रहे हैं।

– हमलोगों को लगता है कि क्या उन्होंने कोई नई शर्त लगा दी?

महाराज – नई शर्त तो नहीं है। आदर्श कुछ नया है। क्योंकि जब अवतार आते हैं, तो जैसे प्राचीन आदर्श-परम्परा की रक्षा करते हैं, वैसे ही एक नया आदर्श प्रदान करते हैं।

– पहले भी तो लोग मुक्ति प्राप्त करते थे। अब मुक्ति के लिये फिर से कोई नयी वस्तु ग्रहण करनी होगी, क्यों?

महाराज – पहले जो मुक्ति-मार्ग दिखाया गया है, वह कठिन मार्ग था। नये अवतार ने आकर उसे सरल कर दिया।

– यहाँ मुक्ति-मार्ग कठिन नहीं है, बल्कि सरल हो गया है।

महाराज – हाँ।

– यहाँ आना ही होगा, ऐसा जोर देकर कहना, क्या यह एक प्रकार की शर्त नहीं हो रही है?

महाराज – आना ही होगा, माने इस भाव को लेना होगा।

– क्या इस भाव के बिना मुक्ति नहीं होगी?

महाराज – कठिन बात है।

– आपने कहा, उनके पास आना होगा, ऐसा अर्थ करने से कट्टरता होगी, आदर्श की बात ग्रहण करने से कट्टरता नहीं होगी। उनके पास आना और आदर्श के पास आना, इसमें क्या अन्तर है?

महाराज – वे अर्थात् कौन?

– श्रीरामकृष्ण देव ।

महाराज – श्रीरामकृष्ण देव ने तो शरीर-त्याग कर दिया है। तब क्या होगा? जिस भाव को उन्होंने प्रदान किया है, उसे ही ग्रहण करना होगा।

– हाँ, किन्तु आपने कहा कि उनके पास आना, ऐसा भाव ग्रहण करने से कट्टरता होगी।

महाराज – हमलोग भले ही कट्टरता कहते हैं, किन्तु जैसाकि गीता में कहा गया है – **स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः। (४/३)**

वैसे ही उन्होंने कहा कि सनातन धर्म सर्वदा है और रहेगा। यह बात भी ठाकुर ने कही है। कट्टरता होने पर तो यह बात नहीं कह सकते थे।

– तब तो भगवान ने ही इस युग में अपना भाव या आदर्श कहा है। अब नया कहाँ से हो गया?

महाराज – नया का तात्पर्य है कि उसमें नयी जीवनीशक्ति संचारित हुई है।

– क्या आदर्श के रूप में कोई नवीनता नहीं रहेगी?

महाराज – हाँ, उसी आदर्श में नवीनता है।

– वह क्या है महाराज? ठाकुर के जीवन या ठाकुर के आदर्श में नया भाव क्या है, थोड़ा कहिये तो।

महाराज – नवीनता यह है कि अब याग-यज्ञादि नहीं करना होगा। भगवान का नाम लेने से ही उद्धार हो जायेगा।

यह नया आदर्श है। याग-यज्ञ नहीं करना होगा, क्या इसे किसी ने कहा है? ठाकुर ने कहा है।

– चैतन्यदेव ने भी तो नाम पर जोर दिया है।

महाराज – चैतन्यदेव ने दिया है, यह ठीक बात है, किन्तु चैतन्यदेव के आदर्श की परिणति तो हमलोग देख ही रहे हैं। जब आदर्श म्लान हो जाता है, तब उसे पुनरुज्जीवित करने के लिये अवतार का आविर्भाव होता है। इसीलिये अवतार का आदर्श एक ओर सनातन होता है और दूसरी ओर नवीन होता है।

– इसलिये ठाकुर जहाँ कहते हैं कि कलियुग में कर्म करना कठिन है, तो क्या वह वैदिक कर्म याग-यज्ञादि है?

महाराज – हाँ।

– किन्तु कर्मयोग का तो पुन: प्रवर्तन हो गया।

महाराज – जब कर्म कह रहे हैं, जिस परिप्रेक्ष्य में कह रहे हैं, उसे ग्रहण करना होगा। क्या उन्होंने खाना-पहनना भी निषिद्ध कर दिया? वह भी तो कर्म है।

– उन्होंने वैदिक क्रिया-कलापों से साधक को मुक्त किया। यही सहज कर दिया।

महाराज – अरे, याग-यज्ञादि से मुक्ति नहीं होती। उससे कुछ नहीं होगा । जिसे स्वर्ग का लोभ है, वह उसे करे। संन्यासियों ने याग-यज्ञादि का परित्याग किया। याग-यज्ञ यदि इतना आवश्यक होता, तो उसे परित्याग करने को क्यों कहते?

– याग-यज्ञ का तो गृहस्थों ने भी परित्याग किया है। क्या उनलोगों ने खीझकर त्याग किया है?

महाराज – उनलोगों ने मुख टेढ़ाकर, खीझकर त्याग किया है, ऐसा नहीं है, उसका अर्थ है अनुरागरहित।

– जो भी हो, हमलोगों ने समझा कि जो लोग मुक्ति चाहते हैं, उन्हें ठाकुर के इस नवीन आदर्श को ग्रहण करना होगा। इसमें एक प्रश्न और उठता है कि क्या पहले के साधना-मार्गों के अनुसरण करने से मुक्ति नहीं होगी?

महाराज – क्या ठाकुर ने उन मार्गों का निषेध किया है?

– नहीं, ऐसा नहीं कह रहा हूँ। किन्तु यहाँ आना ही होगा, ऐसा जोर देकर तो बोल ही रहे हैं।

महाराज – ये सभी मार्ग एक भगवान की ओर ही ले जानेवाले मार्ग हैं। यही ठाकुर की विशिष्टता है।

– क्या इस उदारता को ग्रहण करना होगा?

महाराज – हाँ।

– इसका तात्पर्य तो 'यहाँ' कहने से भी मार्ग होगा?

महाराज – उसे तो ठाकुर ने बार-बार कहा है। ठाकुर का समन्वय का भाव है। किसी एक को दृढ़तापूर्वक पकड़ो। किन्तु अन्य के सम्बन्ध में कटाक्ष मत करो। यह भी कहा है। श्रद्धावान होओ। किसी की आलोचना मत करो। क्योंकि तुम उनके मत के बारे में कुछ नहीं जानते हो। अपने सम्प्रदाय-मार्ग पर दृढ़ निष्ठा रखना और साथ-साथ दूसरे सम्प्रदाय-मार्ग की श्रद्धा करना ही ठाकुर के कहने का अभिप्राय है। **(क्रमश:)**

पृष्ठ ४७४ का शेष भाग

उन्मादी हैं। ढाका के लोग तो माँ को बुलाना चाहते थे। मैं अत्यधिक क्रोधित हो गया था । उन लोगों में रंचमात्र भी गम्भीरता नहीं थी।

प्रश्न – तोतापुरी, त्रैलंगस्वामी का अनुसरण करने से हानि क्या है?

महाराज – केवल निर्गुण जानने से कैसे चलेगा? जो निर्गुण हैं, उन्हें ही तो माया के आवरण द्वारा सगुण, जगत-रूप में देखा जाता है। जो व्यक्ति ब्रह्म का निर्गुण भाव और उनकी यह माया, सब कुछ जानता है, वही ठीक-ठीक जानता है। अन्यथा वजन में कम पड़ेगा – अपूर्ण ज्ञान होगा।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र किसी काल या स्थान विशेष की बात नहीं है, इनकी सभी क्षेत्रों में आवश्यकता है। थोड़ा विचार करके देखो, किसी भी कार्य में चार लोगों की भूमिका रहती है। किसी मस्तिष्क में योजना बनती है, कोई उसे कार्यान्वित करता है, कोई उसकी बाधा दूर करता है और कोई गणना करता है।

मनुष्य के साथ व्यवहार करना एक बहुत बड़ी चीज है, इससे मनुष्य के सच्चे मनोभाव का पता चलता है। सामान्य मनुष्य की तो बात ही नहीं है, यहाँ तक कि नौकरों के साथ भी अच्छा व्यवहार करना होगा। माँ ने कहा है, संन्यासी है और नौकर भी रखेगा ! बाबूराम महाराज ने कहा है, वे सब तो ठाकुर की सेवा करते हैं, गरीब होने के कारण दो पैसे लेते हैं। उनकी भी सुख-सुविधा देखनी पड़ती है। **(क्रमश:)**

निवेदिता को भारतीय जीवन-दर्शन का बोध

स्वामी सत्यरूपानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

निवेदिता का भारत के नव-निर्माण में महान योगदान है। वे स्वामी विवेकानन्द की शिष्या थीं। जब उन्होंने सर्वप्रथम अपने देश में स्वामी विवेकानन्द जी का व्याख्यान सुना था, तो स्वामीजी के विचारों से बहुत प्रभावित हुईं। तब वे शिक्षिका थीं। उन्हें लगा कि यही वे व्यक्ति हैं, जो समस्त संसार के कल्याण का चिन्तन करते हैं, जिनका मैं खोज कर रही थी, जिनमें जाति, धर्म, देश, स्त्री-पुरुष आदि का भेद नहीं है और जो सम्पूर्ण मानवता का हित चाहते हैं, उसके लिये कुछ करना चाहते हैं।

निवेदिता को विश्वहिताय जीवन-दर्शन का बोध

स्वामी विवेकानन्द जी के सान्निध्य में रहकर निवेदिता ने यह समझ लिया था कि ऐसा जीवन-दर्शन जो सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय जीवन-पद्धति विश्व को दे सकता है, वह भारतीय जीवन-दर्शन ही है। क्योंकि मनुष्य का सार्वजनीन सर्वांगीण विकास इसी जीवन-दर्शन के द्वारा हो सकता है। सर्वप्रथम इस जीवन-दर्शन का प्रकाश भारतवर्ष में ही हुआ। भारत के ऋषि-मुनियों ने इस जीवन-दर्शन को अपने जीवन में आचरण कर विश्व को दिखा दिया कि देश-कालरहित यह शाश्वत जीवन-दर्शन ही विश्व के सम्पूर्ण मानव के जीवन में पूर्णता प्राप्ति का उपाय बता सकता है। निवेदिता ने इसे समझकर सर्वप्रथम इस विश्वहिताय जीवन-दर्शन को अपने जीवन में ही उतारने का संकल्प लिया और उस प्रयत्न में स्वयं को झोंक दिया।

स्वामी विवेकानन्द के कार्य को निवेदिता ने कैसे आगे बढ़ाया?

स्वामी विवेकानन्द को सुनने के पश्चात् निवेदिता ने यह अनुभव किया कि जिस जीवन-दर्शन को मैं आदर्श एवं सर्वकल्याणकारी समझ रही हूँ, उस जीवन-दर्शन को इस व्यक्ति (स्वामी विवेकानन्द) ने अपने जीवन में उतारा है। वे अपने देश भारतवर्ष में विशेषकर महिलाओं में उसका प्रचार करना चाहते हैं तथा उसे भारतीय नारियों की जीवन पद्धति में लाना चाहते हैं।

शिक्षित नारियों का अभाव

स्वामी विवेकानन्द ने निवेदिता से कहा था कि भारत में अभी ऐसी शिक्षित नारियाँ नहीं हैं, जो इस जीवन-दर्शन का अध्ययन कर उसे अपने जीवन में आचरण में लाएँ तथा साथ ही अन्यान्य भारतीय महिलाओं में इस जीवन-दर्शन का प्रचार-प्रसार कर उन्हें भी उन्नत

चरित्र-पवित्रतासम्पन्न, विशुद्ध मातृभाव से परिपूर्ण करें।

निवेदिता को भारत की सेवा की प्रेरणा

तत्कालीन भारत में शिक्षित नारियाँ नहीं थीं। स्वामी विवेकानन्द जी की इच्छा थी कि भारत में नारियों को शिक्षित किया जाय। किन्तु नारियों को शिक्षा कौन देगा? कैसे वे स्वयं शिक्षित होकर दूसरों को शिक्षित करने में सहायता करेंगी? अत: मार्गरेट नोबल (निवेदिता) को यह आन्तरिक प्रेरणा हुई कि वे भारतवर्ष जाकर अपने गुरु स्वामी विवेकानन्द की इच्छा को पूर्ण करने के लिए भारतीय नारियों को शिक्षित करने और उनके सेवा कार्य में अपना जीवन समर्पित कर दें। निवेदिता ने भारत आकर अपनी सेवाएं देने के संकल्प से पत्र द्वारा अपने गुरु स्वामी विवेकानन्द को अवगत कराया। स्वामीजी ने तत्कालीन भारत की दुरवस्था का वर्णन करते हुए निवेदिता को लिखा था कि भारत आकर उन कठिनाइयों को प्रत्यक्ष देखकर भी यदि तुम कार्य करना चाहोगी, तो मैं तुम्हारी सभी प्रकार की सहायता करने का प्रयत्न करूँगा।

निवेदिता भारत आईं और उन्होंने देखा कि भारत की समस्याओं के समाधान के लिये शिक्षा ही एकमात्र सर्वोत्तम उपाय है। इसलिए उन्होंने भारत आकर लड़कियों की शिक्षा के लिए एक स्कूल खोला। पहले पहल उनको बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पहले तो विशेषकर हिन्दू माताएँ अपनी पुत्रियों को आधुनिक शिक्षा देना नहीं चाहती थीं, फिर निवेदिता एक अंग्रेज महिला थीं। इसलिए तत्कालीन भारत की हिन्दू महिलायें एक अंग्रेज महिला के पास अपनी बच्चियों को पढ़ने के लिए भेजना नहीं चाहती थीं। निवेदिता घर-घर जाकर बच्चियों की माताओं से मिलकर उन्हें समझाती थीं कि बच्चियों की शिक्षा कितनी आवश्यक है तथा शिक्षित होकर बच्चियाँ इस प्रकार अधिक

दृढ़ चरित्र और पवित्र हो सकेंगी। यथाकाल उत्तम मातायें बन सकेंगी।

कुछ माताओं को निवेदिता का यह प्रस्ताव अच्छा लगा। उन्होंने अपनी बच्चियों को निवेदिता की पाठशाला में भेजने की अनुमति दी। निवेदिता ने सावधानीपूर्वक भारत की महिलाओं की जीवन-पद्धति का अवलोकन किया तथा इस बात की सावधानी रखी कि भारत की बच्चियों को आधुनिक शिक्षा दी जाय, किन्तु उनके सांस्कृतिक, सामाजिक एवं घरेलू व्यवहारों के साथ छेड़छाड़ न किया जाय।

निवेदिता ने हिन्दू माताओं की धार्मिक आस्था तथा व्यवहारों की कभी निन्दा नहीं की। किन्तु साथ-ही-साथ स्वामी विवेकानन्द प्रणीत नारियों के आदर्श की ओर भी उनका ध्यान आकर्षित किया।

निवेदिता ने भारतीय माताओं के घनिष्ठ सम्पर्क में आकर यह देख लिया था कि भारतीय संस्कृति, यहाँ के रहन-सहन में और पाश्चात्य देशों की संस्कृति में बहुत भिन्नता है। भारत में नारियाँ बहुत मर्यादा और शिष्टाचार में रहती हैं। वे माता-पिता के अनुशासन और स्नेह-छाया में रहती हैं। उनका अपने भाई-बहनों के साथ अटूट प्रेम मर्यादा की सीमा में होता है। जबकि पाश्चात्य में ऐसा नहीं हैं। अत: यहाँ की नारियों को शिक्षित करने के लिये भारतीय संस्कृति के अनुसार ही शिक्षा प्रदान करनी होगी।

निवेदिता ने भारतीय संस्कृति की विशेषता को ध्यान में रखते हुए अपनी पाठशाला में बच्चियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन किया और उन्हें यह बताया कि कन्या की शिक्षा, उसका विकास तथा उसकी उन्नति पुरुषों का अनुसरण करके नहीं हो सकती। अपितु उनकी उन्नति भारतीय संस्कृति के निर्धारित सिद्धान्तों के अनुसार ही करनी होगी। अपने इस कार्य में निवेदिता कुछ कठिनाइयों के बावजूद सफल भी रहीं।

इस प्रकार निवेदिता ने बहुत कष्ट सहकर भारत में नारी-शिक्षा के लिये कार्य किया। उनके द्वारा स्थापित बालिका विद्यालय आज भी बालिकाओं की शिक्षा में यत्नशील है। निवेदिता एक पवित्र कर्मशीला नारी थीं, जिन्होंने अपने गुरु स्वामी विवेकानन्द के निर्देश पर अपना जीवन भारत की सेवा में समर्पित कर दिया। OOO

प्रेरक लघुकथा

जन-जन का मंगल सधे धर्मलाभ सो होय

डॉ. शरत् चन्द्र पेंढारकर

एक बार राजा विक्रमसेन आचार्य सिद्धसेन सुरी के दर्शन के लिए गए। राजा के प्रणाम करने पर उन्होंने 'धर्मलाभ भव' कहा। तब राजा ने कहा, "क्षमा करें आचार्य, मैं तो अब तक 'आयुष्मान भव', चिरायु भव' 'पुत्रवान भव' जैसे आशीर्वचन सुनता आ रहा हूँ। धर्मलाभ का आशीर्वाद पहली बार ही सुन रहा हूँ। इस आशीर्वचन से आपका क्या आशय है? इसे समझाने की कृपा करें, तो मेरे ज्ञान में अभिवृद्धि होगी।"

आचार्य ने कहा – "बच्चे की इच्छा तो श्वान और शूकर भी करते हैं। विधाता ने हाथी और कछुओं को लंबी आयु दी है। मनुष्य को उनकी कामना करना स्वाभाविक है।' धर्म का अर्थ लोग पूजा, अर्चना और अन्य धार्मिक क्रियाओं से करते हैं। वस्तुत: जिसमें धारणा हो, वह धर्म है। यह धारणा भक्ति की ओर उन्मुख होती है। धारणा में दूसरों के मंगल की कामना निहित है। सत्य, दया, क्षमा, प्रेम, उदारता, श्रद्धा, विश्वास, परोपकार आदि धर्मानुकूल आचरण हैं। धर्मलाभ प्राप्त व्यक्ति इन सदाचरणों का भली भाँति पालन करता है। धर्मलाभ से ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता है और सद्गति प्राप्त कराने में वह सहायक होता है।"

धर्म, सुख-शान्ति का आधार है। धर्म सत्कर्मों द्वारा प्राणिमात्र का हित और कल्याण करने की शिक्षा देता है। धर्म का मर्म मालूम होना ही धर्मलाभ है। धर्म प्राप्त करनेवाला व्यक्ति हिताहित का विचार कर धर्माचरण करता है। इससे उसकी धर्मबुद्धि दृढ़वती और बलवती होती है। OOO

रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन का आदर्श उन सनातन सिद्धान्तों पर आधारित है, जिनका श्रीरामकृष्ण ने अपने जीवन में आचरण और अनुभव किया तथा जिनकी व्याख्या स्वामी विवेकानन्द ने की। इस आदर्श की तीन विशेषताएँ हैं – यह आधुनिक है, क्योंकि वेदान्त के प्राचीन सिद्धान्तों को आधुनिक स्वरूप में प्रस्तुत किया गया है। यह सार्वभौम है, क्योंकि यह सम्पूर्ण मानवता के लिए है। यह व्यावहारिक है, क्योंकि ये सिद्धान्त जीवन की दिन-प्रतिदिन की समस्याओं को हल करने में प्रयुक्त हो सकते हैं।

भगिनी निवेदिता के पत्रों में भारतीय नारियों की महिमा

सुरुचि पाण्डे

उपाध्यक्षा, इला फाउंडेशन, पुणे

भगिनी निवेदिता के पत्र भारतीयता से ओत-प्रोत हैं। भारत की कोई स्थापत्य कला हो या मूर्ति हो, कोई प्राकृतिक वर्णन हो या भारतीय-सभ्यता अथवा शिक्षा-प्रणाली हो, सर्वत्र वे प्राचीन उदात्त भावनाएँ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से हमें जोड़ती हैं, उनसे समन्वय कराने का प्रयास करती हैं। 'कम्प्लीट वर्क्स ऑफ सिस्टर निवेदिता' के खण्डों में भगिनी निवेदिता की भारतीय सभ्यता के प्रति उदात्त और चिन्तनशील भावना व्यक्त होती है। अपने पत्रों में वे अनौपचारिक रूप से स्वयं को अभिव्यक्ति करती हैं। निवेदिता के बहुआयामी व्यक्तित्व को जानने के लिए, उनके पत्रों का विस्तृत अध्ययन अनिवार्य है।

भारत में जो कार्य निवेदता ने किया, उसमें उनकी भारत के प्रति आस्था तथा उनके गुरु स्वामी विवेकानन्द के प्रति अगाध श्रद्धा झलकती है। कई स्थानों पर उन्होंने अपने योगदान को छिपाया है। निवेदिता के पत्रों में ऐसी अनेक बातें प्राप्त होती हैं, जिसमें भारतीय संस्कृति और भारतीय लोगों के प्रति उनका आदर और प्रेम व्यक्त होता है। भारतीय नारियों की महानता, सरलता, उनका मातृत्व और सर्वोपरि उनके तप:पूर्ण जीवन को देखकर निवेदिता अभिभूत हो गई थीं। उनके पत्रों में यत्र-तत्र इसका उल्लेख हमें प्राप्त होता है।

रामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य के पाठक 'गोपाल की माँ' से परिचित हैं। गोपाल की माँ जैसी दृढ़-धर्मपरायणा वृद्धा ने निवेदिता जैसी विदेशी नारी को अपनी बेटी का स्थान दिया। इस घटना से निवेदिता के चरित्र की महनीयता तथा नि:स्वार्थ प्रेम दृष्टिगोचर होता है। उनके पत्रों में गोपाल की माँ का वर्णन भी हमें प्राप्त होता है। ८ मार्च, १९०६ के दिन, कोलकाता से लिखे पत्र में वे कु. मैकलाउड से कहती हैं –

गोपाल की माँ

"रविवार को सार्वजनिक महोत्सव का दिन था। दोपहर के भोजन के बाद हम मठ में गए। आजकल सभी बातें भारत में आए हमारे आगमन के प्रथम वर्ष का स्मरण कराती हैं, जैसे कि जहाँ-तहाँ फूल और उसकी सुगन्ध हो। और आपके साथ उस रविवार को मैं भूल नहीं पाती हूँ, जब गोपाल की माँ ने हमारा हाथ पकड़कर परिचित कराया था। क्या आपको वह याद है? और क्या तुम्हें यह याद है कि इस घर में अब हमारे साथ गोपाल की माँ रहती हैं?... "

फिर १२ जुलाई, १९०६ को कोलकाता से लिखे पत्र में निवेदिता ने कु. मैकलाउड को बताया कि "गोपाल की माँ का देहान्त हो गया। रविवार के दिन गंगा के पास उन्होंने अन्तिम साँस ली। कितना पवित्र और शान्तिपूर्ण परिवेश था वह ! उनकी आत्मा मुक्त हो गयी।"

गोपाल की माँ के लिए निवेदिता ने हिन्दू धर्म-पद्धति से श्राद्ध संस्कार भी किया था। इसका उल्लेख हमें १८ जुलाई १९०६ के पत्र में मिलता है।

नारी-शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने के लिए स्वामीजी ने सबसे पहले निवेदिता का आह्वान किया था। निवेदिता का कार्यक्षेत्र विस्तृत हो गया, परन्तु भारतीय नारी-जीवन की विशेषताएँ, पारम्परिक ज्ञान तथा आधुनिक शिक्षा प्रणाली कैसे भारतीय नारियों तक पहुँचें, इसके लिये वे सदा सोचती रहती थीं। इसके दृष्टान्त हमें उनके कुछ पत्रों में प्रतिबिम्बित होते हैं।

२७ सितम्बर, १९०८ को अलबर्टा स्टर्जिस (लेडी सेण्डविच) को निवेदिता लिखती हैं –"मैं नहीं जानती थी कि हमारे विद्यालय की आवश्यकता समझने में तुम्हें समस्या हो रही है। मैं स्पष्ट रूप रूप से यह बात समझाने का प्रयास करती हूँ।

जो लोग पूर्व के राष्ट्रों से परिचित हैं, वे सब जानते हैं कि वहाँ की महिलाओं की शिक्षा सबसे गहन समस्या है। बहाई और एम. पैरी लोटे के अलावा कुछ सचित्र समाचार-पत्र भी तुर्क और मिस्र देशों की इस समस्या से हमें अवगत कराते हैं। भारत में भी ऐसी ही समस्या है, इसे सरकार

और सभी लोग मानते हैं। भारत के सम्बन्ध में ईसाई धर्मोपदेशकों ने इसका कुछ अधिक प्रचार किया, जिसे हम कदाचित् गलत दृष्टिकोण मानते हैं। ईसाई-धर्मोपदेशकों का सोचना त्रुटिपूर्ण है, शिक्षा की आवश्यकता में उनका अभिप्राय चाहे सही हो अथवा गलत, किन्तु प्राच्य कन्याओं की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के महत्त्वपूर्ण मूल्यों को समझने में वे सक्षम नहीं हैं। यद्यपि एक बात सत्य है कि पौर्वात्य पुरुष प्रतिदिन आधुनिक विचारधारा से अधिकाधिक परिचित हो रहे हैं, लेकिन उसमें पौर्वात्य महिलाएँ, सहभागी नहीं हो पाती हैं। अगर किसी समाज में स्त्री-पुरुष पूर्णत: भिन्न वैचारिक विश्व में रहते हैं, तो वे एक दूसरे के सहयोगी नहीं बन सकते, बल्कि वे परस्पर विरोधी बन जाते हैं और अपने को अनुपयोगी समझते हैं, तब सामाजिक जीवन में कैसी अनास्था फैल जाती है, इसका तुम अनुमान लगा सकती हो। ... इसका दुखद परिणाम समाज का नैतिक, तथा बौद्धिक अध:पतन होता है। इसके निराकरण हेतु विचार और जीवन में उदारता, नयी योजनाएँ बनाने तथा स्त्री और पुरुष को सहभागी होना होगा। ऐसी सहभागिता, विकास के लिये नारियों को शिक्षित करना अत्यावश्यक है।

प्राच्यवासी स्वयं जानते हैं कि यह बात उचित है। अपनी सहधर्मिणी के लिए मानसिक रूप से समानता और पारस्परिक सम्मान के लिए जितना यहाँ के लोग लालायित हैं, उतना मैंने पहले कभी नहीं देखा।

मानसिक रूप से समानता तथा पारस्परिक आदरभाव अपनी सहधर्मिणियों में भी प्रस्फुरित होने के लिये तथा उनके साथ सच्ची मित्रता होने के लिये उत्सुक और कोशिश करने वाले पुरुष इतनी बहुसंख्या में हों ऐसा मैंने पहले कभी देखा नहीं था। स्त्री रूप में जो बौद्धिक सम्पदाएँ अभिव्यक्ति होती हैं, उनका हार्दिक स्वागत करने के लिये वे तैयार हैं ... ।

अब प्रश्न यह है कि प्राच्य की महिलाओं को शिक्षा कैसे मिले?

प्राच्य की महिलाओं के लिये शिक्षा बहुत आवश्यक है। इसके लिए बहुत से प्रयत्न किए गए हैं। भारत में जो विभागीय तथा प्रान्तीय कार्यपद्धति है, उससे शिक्षा के लिये किये गये प्रयासों का सांख्यिकी चित्र उपलब्ध होना कठिन है। किसी जिला या प्रान्त के बारे में अधिकांश लोगों को सर्वसाधारण जानकारी तो अच्छी तरह से होती है, किन्तु पूरे भारत में किसी विशेष विषय में निर्दिष्ट जानकारी बहुत ही कम लोगों को होती है।

फिर भी श्री रैटक्लिफ के द्वारा पंजाब की परिस्थितियों के बारे में, लाजपत रायजी से तथा श्रीकॉटन महोदय (इंडिया के सम्पादक) से बॉम्बे और मद्रास के समाचारपत्रों से, बंगाल के लिए श्रीमती रैटकिल्फ से आकड़ा संकलन करने की विनती करके सरकार नारी-शिक्षा पर वास्तव में कितना व्यय कर रही है, इसके बारे में कुछ तो कहा जा सकता है। मैंने सुना है कि इस वर्ष संसद-सत्र की चर्चा में ऐसा बताया गया है कि भारत की शिक्षा पर सरकार ने सिर्फ ३००,००० पौन्ड खर्च किए हैं और नारी-शिक्षा पर किया गया यह बहुत कम खर्च है।

मद्रास प्रेसिडेन्सी में महिलाओं की प्राथमिक शिक्षा के लिए सरकार ने अच्छा प्रयास किया है, यह मैं जानती हूँ। कलकत्ता तथा बॉम्बे स्थित उच्च शिक्षा की एक-दो संस्थाओं की भी सहायता की गई है, यह भी मैं जानती हूँ। किन्तु साधारणत: यह सहायता ईसाई धर्मप्रचारकों को तथा साम्प्रदायिक विद्यालयों को दी गई है। किसी भी निरपेक्ष शुद्ध शिक्षा हेतु आर्थिक सहायता नहीं दी गई है। भारतीय नारियों को आधुनिक शिक्षाप्राप्ति हेतु अधिकतर ईसाई विद्यालयों पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

जो भी हो, शिक्षा के क्षेत्र में बाहरी या अन्य प्रभाव से किये गये कार्यों का परिणाम हमेशा विध्वंसकारी ही होता है। धर्मनिरपेक्ष अंग्रेजी सरकारी नौकरी से या साम्प्रदायिक पक्षपात से विदेशियों के मन में जो नारी की धारणा है, उसका विचार-विमर्श किये बिना किस चीज का विकास होना

चाहिए या किसकी उपेक्षा करनी चाहिए, इसकी सन्तुलित मनोभूमि तैयार नहीं हो सकती। अब तक जो भी आधुनिक शिक्षा भारतीय महिलाओं को दी गई है, वह औपचारिक शिक्षा तक सीमित रही है। ... यदि भारतीय साहित्य पढ़ने का प्रशिक्षण दिए बिना, उन्हें कुछ पढ़ाया जाता है, तो वह घटिया सनसनीपरक किसी प्रकार सन्तोषजनक होता है। अगर भारतीय आदर्शों के स्थान पर विदेशी आदर्श सिखाए गये, तो उससे भारतीय मन में भ्रम उत्पन्न होता है या उपभोगवादी अथवा छिछोरेपन के गुण अथवा अन्य दुर्गुण पनपने लगते हैं। सद्गुणों की वृद्धि के बदले पाश्चात्य विवेकहीन अनुसरण करनेवाले लोग बढ़ने लगते हैं।

मेरी तरह और भी कुछ लोग इन परिणामों को जानते हैं। वास्तव में विकास के समान शिक्षा भी आन्तरिक रूप से प्रस्फुटित होनी चाहिए। केवल आन्तरिक संघर्ष, केवल ज्ञानार्जन करनेवाले की निष्ठा ही लाभदायक होती है। जो लोग इस बात को नहीं मानते, वे लोग शिक्षा-शास्त्र से ही अपरिचित हैं। हम जानते हैं कि हमारे स्वयं के प्रयास से हमारी प्रगति होती है। अगर हमारे अन्तर्मन में विकास करने की इच्छा ही नहीं है, तब इस जगत में बाहर से हम पर कितने भी आघात लगे हों, वे सभी व्यर्थ हैं। जो सिद्धान्त व्यक्ति पर लागू होता है, वही समाज के लिये भी लागू होता है।

भारतवासी अब हमें अपने सामाजिक जीवन का अंग समझते हैं, इतनी तो पूर्व तैयारी हमने की है। उन्होंने हमें स्वीकार कर लिया है, इसीलिए अब हम उन्हें कह सकते हैं कि वे आत्मविकास के लिए शिक्षा प्राप्त करें। अब तक भारतीय महिलाएँ अपने सामाजिक, धार्मिक या आर्थिक संरचना को क्षति पहुँचाये बिना, केवल प्राथमिक स्तर की ही शिक्षा पा सकती हैं। वयस्क महिलाएँ हमारे पास अधिक आती हैं। इसके कारण कम उम्र की लड़कियों को बहुत मात्रा में संगति मिलती है। वे हमारे साथ रहती नहीं, इसलिए उन पर भी दबाव नहीं होता। हम दोनों एक-दूसरे पर निर्भर नहीं होते। हमारे यूरोपीय जन्म के आदर के कारण हम विधवाओं को पुनर्विवाह के लिए मदद नहीं करते। बल्कि भारत के अपने शिष्टाचार हैं, अपनी संस्कार-पद्धति है, उनका सम्मान करके हम भारतीय विचार को ही अधिक संस्कारित रूप में लाने की कोशिश करते हैं। हम धर्म की सीख नहीं देते, क्योंकि धर्म को सिखाना यह घर के अन्तर्गत होने वाली रीति है, लेकिन हमारी विद्यार्थिनियाँ जिन आदर्शों के साथ परिचित हैं, उनका सन्दर्भ हम अवश्य लेते हैं। अपरिचित बातों को आवश्यकता से अधिक स्पष्टीकरण देने से हम दूर रहते हैं।

इस तरह से हम विद्यार्थिनियों के लिये ऐसा विद्यालय बनाने की कोशिश कर रहे हैं, जिसे देखकर लगे कि यह तो भारतीय महिला द्वारा भारतीय महिलाओं के लिये आरम्भ किया गया विद्यालय है। यह भारतीय जीवन से सुसम्बद्ध है और समाज के विघटन तथा विध्वंस के लिए ये विद्यालय नहीं चलाया जाता – ऐसा विश्वास निर्माण हो, यह हम चाहते हैं। यह बहुत-सी सीधी-सरल कामना है और अन्य लोग भी इस दिशा में प्रयत्न कर रहे हैं। हम इस विद्यालय को बहुआयामी करना चाहते हैं।

इसकी तत्परता तथा स्तर ऊँचा रखना चाहते हैं। आगे चलकर कार्य ऐसा बढ़े कि जिससे आजीविका के स्त्रोत भी निर्मित हो सकें। इसके लिए हम आर्थिक सहायता ढूँढ़ रहे हैं।

इतना प्रदीर्घ पत्र पढ़ने के लिये तुमने संयम दिखाया उसके लिए मैं धन्यवाद देना चाहती हूँ।

सदा तुम्हारी विश्वासपात्री,

मार्गरेट

नारी-शिक्षा, शिक्षा-प्रणाली, उसमें आनेवाली समस्याओं आदि असंख्य पहलुओं पर निवेदिता ने इस दीर्घपत्र में स्पष्ट विचार प्रकट किए हैं। उनके अन्य पत्रों में भी सन्दर्भ के अनुसार शिक्षा पर विचार मिलते हैं। निवेदिता के पत्रों में उनके मन का एक संवेदनशील कोमल कोना श्रीमाँ सारदा देवी के लिए भी है। उनसे हुई प्रारम्भिक भेंट के बारे में निवेदिता ने आन्तरिकता से लिखा है। उसकी थोड़ी झलक हम देखते हैं। निवेदिता को भारत में आगमन करने के बाद पाँच महीने हो गए थे। अपनी सखी श्रीमती एरिक हैमण्ड को अलमोड़ा से उन्होंने २२ मई, १८९८ को पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने बड़ी सुन्दरता से श्रीमाँ सारदा देवी का वर्णन प्रस्तुत किया है। वे लिखती हैं –

"पचास से कम आयु की हिन्दू विधवाओं के समान वे सफेद कपड़े पहनती हैं। पहनने का तरीका - वस्त्र को पहले स्कर्ट की तरह कमर में लपेट लिया जाता है, उसके बाद शरीर के ऊपरी हिस्से को लपेटते हुए सिर ढका जाता

है। यह कुछ-कुछ ईसाई संन्यासिनियों की वेशभूषा के समान है। पुरुष लोग जब बात करने आते हैं, तो उन्हें पीछे हटकर खड़े रहना पड़ता है, वे सफेद घूँघट से अपना पूरा चेहरा ढककर उसे सामने लटका लेती हैं, स्वयं सीधे बातें नहीं करतीं; अधिक उम्र की किसी महिला को मृदु स्वर में प्राय: फुसफुसाते हुए कुछ कह देती हैं, फिर वह महिला जोर से उनकी बातों की पुनरावृत्ति करती हैं । इसीलिए लगता है आचार्य देव (स्वामीजी) ने कभी उनका चेहरा नहीं देखा था। साथ ही यह भी जान लेना होगा कि वे हमेशा एक छोटी चटाई बिठाकर फर्श पर बैठी रहती हैं।

तत्कालीन ब्राह्मण परिवार की पर्दाप्रथा के बारे में अपरिचित आज के इस देश के लोगों के लिये सारी बातें बुद्धिग्राह्य नहीं होंगी, पर उन्हें थोड़ा ठीक से समझ लेने पर देखने में आता है कि उनकी प्रत्युत्पन्न मति तथा व्यावहारिक बोध प्रखर है और हर क्षेत्र में इसका परिचय मिलता रहता है। श्रीरामकृष्ण कुछ करने से पहले हमेशा उनकी राय लिया करते थे। श्रीरामकृष्ण के शिष्यगण भी सर्वदा उनका निर्देश मानकर चलते हैं।

सचमुच ही असीम माधुर्य से परिपूर्ण हैं वे। उनका स्नेह कितना मर्मस्पर्शी है ! तथापि वे एक छोटी बालिका के समान हँसमुख हैं। उस दिन जब मैंने जोर देकर कहा कि स्वामीजी को अभी यहाँ पर हम लोगों के बीच आना होगा, नहीं तो हम चली जाएँगी - इसे सुनकर वे कितनी हँसी थीं! जो सेविका यह समाचार लेकर आईं थीं कि स्वामीजी के साथ हमारी भेंट होने में समय लगेगा, उन्होंने जब देखा कि मैं सचमुच ही चले जाने के लिए जूता पहनने को उठ रही हूँ, तो वे बुरी तरह भड़क उठीं और जल्दी से स्वामीजी को बुलाने के लिए दौड़ी – उस समय माँ की उन्मुक्त हँसी का क्या ही अद्‌भुत दृश्य था ! वे कितनी मधुर हैं ! मुझे कहती है – 'मेरी बिटिया'!

आचार-विचार के मामले में वे सर्वदा ही अत्यन्त परम्परावादी थीं, लेकिन जब पहली बार दो (निवेदिता को मिलाकर वस्तुत: तीन) विदेशी महिलाएँ - श्रीमती सारा ओल बुल तथा कुमारी जोसेफिन मैक्लाउड – उनके पास आईं, तो उन्होंने सब कुछ दरकिनार कर दिया। उनके साथ उन्होंने भोजन भी किया ! पहुँचते ही हम लोगों को फल खाने को दिया गया, उन्हें भी दिया गया। हम लोगों के साथ ही स्वयं उनको भी वे फल ग्रहण करते देखकर सभी लोग विस्मित रह गए थे ! इस प्रकार हम लोग उनकी जाति में शामिल हो गईं (अर्थात् निवेदिता को लगा कि सारदा देवी द्वारा सप्रेम ग्रहण करने से वे लोग हिन्दू समाज का अंग बन गई हैं।) और हम लोगों के भावी कार्य का रास्ता खुल गया, जो अन्य किसी भी उपाय से नहीं हो सकता था।
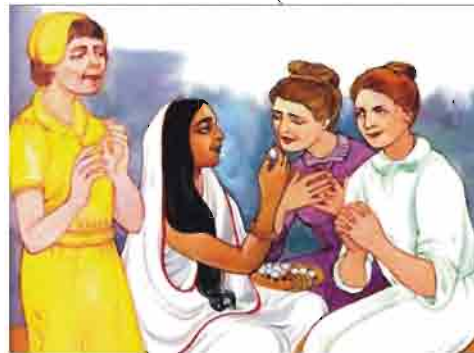
सभी साधु उन्हें श्रद्धा करते हैं। वे हमेशा उनको 'माँ' कहकर बुलाते हैं। ...उनके बारे में बोलते समय 'द होली मदर' (श्रीमाँ) शब्द का प्रयोग करते हैं। विषम परिस्थिति में वे 'माँ' को ही सर्वप्रथम याद करते हैं। उनके साथ एक या दो सेवक हमेशा रहते हैं और उनके लिये माँ की इच्छा ही सर्वोपरि रहती है। यह कितना सुन्दर सम्बन्ध है! यदि तुम्हें 'माँ' के लिये कुछ कहना है, तो मैं तुम्हारे लिए अवश्य यह काम करूँगी। ... वे अत्यन्त सीधी, सरल, निरंहकारी हैं, लेकिन वस्तुत: वे सभी महिलाओं में सबसे अधिक सशक्त और श्रेष्ठ हैं।''

श्रीमाँ सारदा देवी के लोकोत्तर व्यक्तित्व, चरित्र को निवेदिता ने कितनी शीघ्रता से गहराई से पहचान लिया था, इसका प्रमाण हमें इस पत्र से मिलता है। निवेदिता के पत्रों के अनगिनत पहलुओं पर चिन्तन करना एवं तत्कालीन भारत के सामाजिक पट पर उनका योगदान समझ लेना, अतीव सुन्दर तथा प्रज्ञाशील अध्ययन है। ○○○

*** सन्दर्भ:**

''लेटर्स ऑफ सिस्टर निवेदिता'' सम्पादक तथा प्रस्तावना लेखक – शंकरी प्रसाद बसू, नवभारत पब्लिशर्स, कलकत्ता, खण्ड१ और २, १९८२

नरहरि सुनार

पण्ढरपुर महाराष्ट्र का सबसे मुख्य तीर्थस्थान है। वहाँ श्रीविट्ठल भगवान का बड़ा ही सुन्दर मन्दिर है। भगवान श्रीकृष्ण को यहाँ विट्ठल भगवान के रूप में जाना जाता है। पण्ढरपुर में नरहरि सुनार नामक एक शिवजी के भक्त रहते थे। वे आभूषण बनाने का कार्य करते थे। अच्छे आभूषण बनाने में इनकी पूरे गाँव में प्रसिद्धि थी। वे अपना कार्य पूरी निष्ठा से करते थे। हमेशा वे भगवान शिव का नाम जपते रहते थे।

वे शिवजी के इतने बड़े भक्त थे कि उनके अलावा किसी दूसरे देवता को नहीं मानते थे । यहाँ तक कि वे विट्ठल भगवान के मन्दिर में उनके दर्शन करने भी कभी नहीं गए थे। जहाँ विट्ठल भगवान का भजन होता था, वहाँ भी वे नहीं जाते थे। भगवान तो एक ही हैं, किन्तु अपने भक्तों की रुचि अनुसार वे अलग-अलग नाम और रूप लेते हैं। हम जिन भगवान की पूजा करते हैं, उनके प्रति हमारा अटूट विश्वास तो होना ही चाहिए, साथ ही दूसरे देवताओं के प्रति भी हमें आदर होना चाहिए। भगवान शिव नरहरि सुनार जी की भक्ति से तो बहुत प्रसन्न थे, किन्तु वे चाहते थे कि उनके भक्त में यह छोटा-सा दोष भी न रहे।

एकबार एक साहूकार सज्जन नरहरि के पास आए और उन्होंने कहा कि वे श्रीविट्ठल भगवान के लिए कमर की करधनी बनवाना चाहते हैं। नरहरि सुनार ने कहा, ''पण्ढरपुर में दूसरे सुनार भी हैं, आप उनसे बनवा लीजिए।''

साहूकार ने कहा, ''आप एक कुशल कारीगर के रूप में प्रसिद्ध हैं, इसलिए मैं आपसे ही बनवाना चाहता हूँ। आप विट्ठल भगवान का नाप लेकर कृपया करधनी बना दीजिए।''

नरहरि ने कहा, ''मैं शिव भगवान के अलावा और किसी मन्दिर में नहीं जाता, आप तो यह बात जानते ही हैं।''

''ठीक है, मैं आपको नाप लाकर दूँगा, आपको मन्दिर में जाने की आवश्यकता नहीं होगी।'' इस प्रकार नरहरि जी मान गए।

नाप के अनुसार नरहरिजी ने भगवान विट्ठल के लिए करधनी बनाई। साहूकार ने भी विशेष दिन अपने घर पर पूजा की और पूजा का सामान और करधनी को लेकर विट्ठल भगवान के मन्दिर पहुँचे। बड़े आनन्द और भक्तिपूर्वक उन्होंने करधनी हाथ में ली और विट्ठल को पहनाने लगे...अरे, पर यह क्या? करधनी चार अंगुल कमर से बड़ी थी। साहूकार बड़े चिन्ता में पड़ गए। वे तुरन्त नरहरि के पास गए और कहा, 'आपको नाप तो ठीक दिया था, फिर आपने चार अंगुल बड़ी करधनी क्यों बना दी?'' नरहरि भी सोचने लगे कि उन्होंने तो ठीक ही बनाई थी। जो भी हो, उन्होंने करधनी चार अंगुल छोटी कर दी।

अब जब फिर से वह करधनी विट्ठलजी को पहनाई गई तो, वह चार अंगुल छोटी निकली। बेचारे साहूकार जी फिर नरहरिजी के पास आए और कहा कि यह तो चार अंगुल छोटी हो गई। नरहरि जी ने फिर इसे बड़ा किया, तो पहनाने के समय बड़ी हो गई और फिर चार अंगुल छोटा किया तो छोटी हो गई। ऐसा चार बार हुआ।

तब साहूकार ने नरहरि से कहा कि वे स्वयं मन्दिर चलकर विट्ठलजी की कमर का नाप ले लें। किन्तु नरहरि तो शिव के भक्त थे और वे अन्य किसी देवता को देखना भी पसन्द नहीं करते थे, इसलिए उन्होंने शर्त रखी कि वे आँखों पर पट्टी बाँधकर मन्दिर में जाएँगे और स्वयं विट्ठल की कमर का नाप लेंगे।

मन्दिर में जाकर नरहरि ने विट्ठल भगवान को स्पर्श कर नाप लेना शुरू किया। किन्तु उन्हें लगा कि वे त्रिशूलधारी, जटाजूटधारी, गंगाधर, गले में साँप और व्याघ्रचर्म वाले, भगवान शिव को स्पर्श कर रहे हैं। उन्हें विश्वास हो गया कि ये तो भगवान शिव ही हैं। उन्होंने पट्टी खोली और देखा कि ये तो विट्ठल ही हैं। उन्होंने फिर आँखें बन्द की और टटोलना शुरू किया, तो उन्हें वे शंकर जान पड़े। आँखे खोलीं तो विट्ठल ! कहते हैं ऐसा तीन बार हुआ। अब नरहरि जी को यह अनुभव हुआ कि सचमुच जो विट्ठल हैं, वे ही शिव हैं और जो शिव हैं, वे ही विट्ठल हैं। ○○○

सहर्ष संघर्ष

स्वामी मेधजानन्द

स्वामी विवेकानन्द उस समय कॉलेज में पढ़ रहे थे और बी. ए. की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे। तब उनका नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। उनकी बी. ए. की परीक्षा में कुछ ही महीने बाकी थे। तभी उन्हें ख्याल आया कि उन्होंने अपनी पाठ्य पुस्तकों में 'इंग्लैण्ड का इतिहास', इस बहुत बड़े विषय का पन्ना तक नहीं पलटा है। उन्होंने सोच लिया कि किसी भी तरह इस विषय को अच्छी तरह पढ़ना होगा। वे अपनी नानी के घर के एक छोटे-से निर्जन कमरे में यह संकल्प लेकर गए कि इस विषय को वे अच्छी तरह पढ़ेंगे। उन्होंने दिन-रात इस विषय का अध्ययन किया और कुछ ही दिनों में पुस्तक समाप्त कर बाहर आए।

बी. ए. की परीक्षा का प्रथम दिन था। प्रात:काल निश्चिन्त, प्रसन्न और स्वस्थ मन के साथ वे अपने सहपाठियों के पास गए और ऊँचे स्वर में भजन गाने लगे। उनके मित्रों को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा, ''नरेन, परीक्षा के दिन तो तुमको कुछ बची-खुची बातें पढ़ लेनी चाहिए, वह न कर तुम बाहर आनन्द मना रहे हो।'' नरेन्द्र ने उत्तर दिया, ''हाँ, वही तो कर रहा हूँ, मस्तिष्क को थोड़ा साफ रख रहा हूँ। मस्तिष्क को थोड़ा विश्राम देना चाहिए, नहीं तो इन दो घण्टों में सिर में जो घुसाऊँगा, वह पिछले सब पढ़े हुए को अस्त-व्यस्त कर देगा...परीक्षा के दिन सुबह के समय केवल आनन्द, केवल आनन्द कर शरीर-मन को थोड़ी शान्ति देनी होगी। घोड़े की दौड़ होने पर उसकी मालिश कर उसे ताजा करना होता है। मस्तिष्क को भी वैसे ही करना होता है।''

बहुत बार हमारी परीक्षा अथवा चुनौतियों का सामना करने की तैयारी तो होती है, पर उनका सामना करते समय सिर पर एक बोझ-सा होता है। हम सोचते हैं कि कब यह परीक्षा समाप्त होगी। हम जैसे-तैसे किसी-भी तरह अपना वह कार्य पूरा करना चाहते हैं और कभी-कभी यह तनावपूर्ण स्थिति उत्पन्न कर देता है। कार्य में पूरी लगन न होने से उसका अच्छा परिणाम नहीं आता है। इसका पहला कारण यह है कि हम सोचते हैं कि जीवन का लक्ष्य केवल सुखपूर्वक भोग-विलास में रहना है। दूसरा कारण यह है कि हममें पुरुषार्थ करने का अभाव है। ऐसा शायद ही कोई व्यक्ति होगा, जो बचपन में साइकिल चलाना सीखते समय, एक बार भी गिरा न हो। भले ही साइकिल सीखना बच्चों के लिए एक छोटी-सी परीक्षा हो, किन्तु जो बच्चा उत्साहपूर्वक प्रयत्न करता है, वह शीघ्र सीख जाता है।

परीक्षा अथवा विकट परिस्थितियों में जब हम अपने मस्तिष्क को ठण्डा रखते हैं, तब उनसे निपटने के लिए हमारे पास अनेक विकल्प उपस्थित होते हैं। इसके विपरीत बेगार टालने के समान कार्य करने से हमारे मन में चिड़चिड़ेपन और अरुचि का भाव आ जाता है। तब जो कार्य सहज होने वाला होता है, वह भी कठिन हो जाता है। आनन्दपूर्वक कार्य करने से हममें अतिरिक्त ऊर्जा का संचार होता है। बस, हमें यह देखना है कि हम उन कठिन परिस्थितियों में कभी विचलित न हों। कुरुक्षेत्र के रणांगण में महावीर अर्जुन जब युद्ध न करने की अनिच्छा प्रकट कर रहे थे, तब श्रीकृष्ण ने उन्हें कहा था कि यदि तुम वीर योद्धा के समान मर गए, तो तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी और यदि जीत गए, तो इस पृथ्वी का भोग करोगे। श्रीकृष्ण ने उन्हें युद्ध से विरत होने के लिए नहीं कहा। वे चाहते तो कह सकते थे कि अरे युद्ध में क्या रखा है, दो समय की रोटी तो मिल ही रही है, उसे खाकर सन्तुष्ट रहो। किन्तु ऐसा न कहकर उन्होंने अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित किया। ऐसे ही हमें भी अपने जीवन में अपने दुर्गुणों से, अपनी दुर्बलताओं से युद्ध और संघर्ष करना है।

संघर्ष में भी एक प्रकार का आनन्द होता है, हमें केवल उसका तरीका आना चाहिए। जब मन में ऐसा सकारात्मक भाव आता है, तब हम तनावपूर्ण नहीं होते। शक्ति का सही मूल्यांकन कठिन परिस्थितियों में होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम जानबूझ कर विपरीत परिस्थितियाँ निर्माण करें और अपना शक्ति-प्रदर्शन करें। किन्तु प्रत्येक के जीवन में कुछ कठिन अवसर आते हैं और बहुत बार वे अवसर ही हमारे जीवन में बल का संचार करते हैं। जैसे चन्दन को घिसने से वह सुगन्ध प्रदान करता है, स्वर्ण को तपाने से वह अपना उज्ज्वल रूप प्रकट करता है, वैसे ही जीवन में सहर्ष संघर्ष कर हम अपना व्यक्तित्व सुदृढ़ करते हैं। ○○○

भगिनी निवेदिता के कुछ विचार-कण

सर जदुनाथ सरकार

(सर जदुनाथ सरकार का जन्म १८७० ई. में हुआ था। वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्राध्यापक तथा बाद में उसके कुलपति भी हुए। वे भारत के एक महान् इतिहासकार थे। वे भगिनी निवेदिता के घनिष्ठ सम्पर्क में आये थे और उन्होंने अनेकों बार उनकी प्रेरणादायी स्मृतियों को लिखा था। जहाँ तक हमें ज्ञात है, इस विषय पर उनका अन्तिम वक्तव्य १९५२ ई. में गोलपार्क के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर में हुआ था, जो उसी वर्ष उनकी बुलेटिन के नवम्बर अंक में प्रकाशित हुआ। यहाँ प्रस्तुत है उनके सर्वप्रथम लिखित संस्मरण, जो उन्होंने 'एक्स. वाइ. जेड.' छद्मनाम के साथ अंग्रेजी मासिक 'माडर्न रिविउ' के नवम्बर १९११ अंक में प्रकाशित कराया था। यह लेख भगिनी निवेदिता की अंग्रेजी ग्रन्थावली के पाँचवें खण्ड में भी संकलित हुआ है। घटनाओं के अल्प काल बाद ही लिपिबद्ध होने के कारण वर्तमान संस्मरण सर्वाधिक प्रामाणिक हैं। इसका हिन्दी अनुवाद विवेक-ज्योति के पूर्व-सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

सर जदुनाथ सरकार

''हिन्दुस्तान, उत्तर और दक्षिण भारत! उत्तर बुद्धिप्रधान है और पूरे महाद्वीप का हृदय है। उत्तर सृजन करता है और दक्षिण उसका मूल्यांकन तथा सत्यापन करता है। मेरे मनश्चक्षुओं के समक्ष दक्षिण – प्रस्तर की एक विराट् मूर्ति जैसा प्रतीत होता है, जो अपने भव्य रूप में शान्तिपूर्वक विराजमान है और अपने गहन अगम्य नेत्रों से समुद्र के इस छोर से उस छोर तक फैले पूरे महाद्वीप का निरीक्षण कर रहा है। विवेकानन्द को जब मद्रास ने स्वीकार कर लिया, तभी उन्हें अनुभव हुआ कि उनका कार्य अखिल भारतीय हो चुका है। ऐसा ही उस सुदूर अतीत में भी हुआ था – बौद्ध तथा वैष्णव धर्म उत्तर भारत से आरम्भ हुए, परन्तु केवल तभी उन्हें अपना राष्ट्रीय स्वरूप तथा स्थायित्व प्राप्त हुआ, जब दक्षिण ने उनका मूल्यांकन करने के बाद उन पर अपनी मुहर लगा दी।''

*** *** ***

उन्होंने कहा था – ''दक्षिण के पैगोडे मुझे इंग्लैंड के बड़े गिरजाघर के परिसर की याद दिलाते हैं। इनमें आप बाहरी दुनिया से गोपुरम (मुख्य द्वार) से होकर तत्काल एक विराट् चौकोर आंगन में पहुँचते हैं, जिसके बीच में मन्दिर विद्यमान है। यहाँ भी ठीक इंग्लैंड के बड़े गिरजाघर के समान, मन्दिर के चारों ओर की भीतरी दीवारों के किनारे एक कतार में फूस की झोपड़ियाँ तथा पत्थर के कुटीर बने हुए हैं। इन्हीं में पुरोहित, तीर्थयात्री तथा साधु-संन्यासी निवास करते हैं। यहीं पर वे विद्यालय हैं, जिनमें ब्राह्मण बालक संस्कृत शास्त्रों का अध्ययन तथा ताड़पत्रों पर लेखन करते हैं; ठीक वैसे ही, जैसे कि मध्ययुगीन बड़े गिरजाघरों के विशाल वृक्षों की छाया में चलनेवाले विद्यालयों में ईसाई बालक मठवासी आचार्यों के निर्देशन में लैटिन भाषा तथा धर्मशास्त्र पढ़ते और चर्मपत्रों पर लिखा करते थे। इसमें तीर्थयात्रियों के लिये दुकानें भी बनी हुई हैं, जो मन्दिर के अधिकारियों के अधीन हैं। जैसे पश्चिम में सन्त हैं, वैसे ही यहाँ साधु-संन्यासी हैं। वस्तुत: तंजौर या चिदम्बरम में स्थित इस तरह का एक मन्दिर ऐसे एक शान्त धार्मिक समाज को आश्रय देता है, जो स्वावलम्बी होता है और बाह्य जगत् के शोर-शराबे से दूर अपना स्वयं का एकान्त जीवन बिताता है।''

*** *** ***

१९०४ ई. के अक्तूबर में अपनी बोधगया-यात्रा के दौरान एक दिन अँधेरी रात के समय, वे अपने साथियों के साथ नक्षत्र-खचित आकाश के नीचे मन्दिर की छाया में बैठ गयीं। लालटेनें मद्धिम करके झाड़ियों के पीछे रख दी गयी थीं। वे सहसा मानो अतीत की स्मृतियों में डूब गयीं। थोड़ी देर बाद वे अपनी अद्भुत अन्तर्दृष्टि के साथ बौद्धयुग के सच्चे इतिहास का वर्णन करने लगीं।

वे बोलीं – ''प्रारम्भ में बौद्ध धर्म कोई नया धर्म नहीं था। बुद्धदेव एक हिन्दू थे, जो अपने समकालीन आचार्यों से उच्चतर तथा महत्तर थे। उनके अनुयायी हिन्दू समाज के ही अंगीभूत थे। वे अपना कोई नया सम्प्रदाय नहीं मानते थे, बल्कि पड़ोसियों की तुलना में स्वयं को थोड़ा अधिक पवित्र तथा निष्ठावान जीवन बितानेवाला हिन्दू मानते थे; ठीक वैसे ही जैसे कि रामकृष्ण के अनुयायी स्वयं को हिन्दू समाज से भिन्न नहीं मानते। वे हिन्दू समाज के ही अंग हैं, भेद इतना ही है कि वे अपने गुरु को अन्य समकालीन सन्तों तथा आचार्यों की अपेक्षा श्रेष्ठतर मानते हैं। पूरे बौद्धयुग के दौरान हिन्दू धर्म जीवन्त था, यद्यपि बौद्ध लेखक इस विषय में मौन हैं। यदि मैं अपने गुरुदेव (स्वामी विवेकानन्द) के जीवन तथा सन्देश पर कोई ग्रन्थ लिखूँ, तो स्वाभाविक रूप से ही उसमें वैष्णवों

का कोई उल्लेख नहीं होगा; क्योंकि मैं उसमें अपने युग के महानतम आचार्य के रूप में अपने गुरुदेव का ही वर्णन करूँगी। तो क्या परवर्ती इतिहासकार मेरे ग्रन्थ के आधार पर यह निष्कर्ष निकालेंगे कि रामकृष्ण के भक्तों ने वैष्णव-धर्म से भिन्न सम्प्रदाय की सृष्टि की थी या चैतन्य के अनुयाइयों को हिन्दू समाज से बाहर निकाल दिया और क्रूरता के साथ उन्हें मार डाला? हिन्दुओं के उत्पीड़न के फलस्वरूप भारत से बौद्धों का लोप – मुझे तो यह एक मनगढ़न्त कहानी प्रतीत होती है। ईसाई तथा इस्लाम धर्म के बीच जैसी शत्रुता थी, वैसी हिन्दुओं तथा बौद्धों के बीच कभी नहीं थी। अहा, मुझे यह सुनकर कितना आनन्द होता है कि प्राध्यापक सिसिल बेन्डाल ने नेपाली पाण्डुलिपियों के आधार पर दिखाया है कि बौद्ध तथा हिन्दू धर्म – दोनों का उत्तर भारत में एक साथ सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व था और बौद्ध धर्म स्वाभाविक रूप से क्षय को प्राप्त होकर विलुप्त हो गया!''

*** *** ***

बोधगया के जिस बारादरी हॉल में वे ठहरी हुई थीं, उसकी छत पर बैठकर वे बालकों की एक टोली के समक्ष 'एशिया का आलोक' (Light of Asia) ग्रन्थ के अंश पढ़ा करती थीं। उनके गहरे तथा उतार-चढ़ावपूर्ण स्वर से यह पता चल जाता था कि बुद्धदेव के जीवन तथा कार्य का प्रसंग उन्हें कितना अभिभूत कर डालता है!

शाम के समय वे बोलीं, ''चलो, हम लोग सुजाता का घर देख आयें। वहाँ कोई खण्डहर या ध्वंस-स्तूप नहीं है। उस जगह के चारों ओर घास उगी हुई है, परन्तु स्थान अति पवित्र है। सुजाता एक आदर्श गृहिणी थीं, क्योंकि उन्होंने बुद्धदेव को उस समय आहार दिया, जब वे भूख से त्रस्त थे और उन्हें इसकी नितान्त आवश्यकता थी।

*** *** ***

बोधगया से विदा लेने के पूर्व निवेदिता सारी रात अपने कमरे में यह कहते हुए रुदन करती रहीं, ''हम लोग असफल रहे हैं। देश को अब भी गहरी निद्रा से जगाया नहीं जा सका है; इसमें फिर से जीवन का संचार नहीं हो सका। लोग मेरी बातें सुनते हैं, परन्तु अपनी उसी पुरानी चाल पर चलते रहते हैं। हम लोग कुछ भी नहीं कर सके। जिस महान् तेज ने कभी भारत को विश्व का सिरमौर और एशिया का हृदय बना दिया था, उसका पुनर्जागरण नहीं हुआ। अपनी जिस महान् विरासत के फलस्वरूप इस देश ने कभी चिन्तन-जगत् तथा मानवीय सभ्यता के विकास के क्षेत्र में एक विशिष्ट स्थान बना रखा था, उसके प्रति कब सचेत होगा? भारत की वह सजीवता, वह चेतना फिर कब लौटेगी?''

*** *** ***

(१९०५ ई. में) बनारस में कांग्रेस-अधिवेशन के समय वे पाण्डे हवेली में ठहरी हुई थीं। उन्होंने अपने मकान के पत्थर से बने अपने प्राचीन छज्जे से सुनसान सड़क की ओर देखा। ''दोपहर का समय था; घास काटनेवाली औरतें अपने सौदे बेचकर बाजार से लौट रही थीं। उनमें से एक हमारे छज्जे के नीचे खड़ी हो गयी; उसकी पाजेब की खनक बन्द हो गयी; उसने अपनी कमाई का हिसाब करने के लिये अपने चटकीले रंग की साड़ी के आँचल की गाँठ को खोला। और आश्चर्य! उसकी सारी कमाई कौड़ियों में थी, ठीक जैसा कि बुद्ध के समय में हुआ करता था। इस प्रकार बनारस में हम लोग एक साथ ही प्राचीन तथा नवीन भारत से जुड़े हुए हैं। भारत के लिये बनारस का वही महत्त्व है, जो मध्यकालीन यूरोप के लिये ऑक्सफोर्ड या पेरिस का हुआ करता था। यहाँ मानो हिन्दू धर्म के हृदय-केन्द्र के रूप में भारतीय महाद्वीप के सभी अंचलों के साधु-संन्यासियों तथा विद्वानों से मिला जा सकता है।''

*** *** ***

(पटना के) खुदाबख्श ग्रन्थालय में उन्हें फारसी लिपि में शाहजहाँ द्वारा हस्ताक्षरित तथा चित्रों से सज्जित एक पाण्डुलिपि दिखायी गयी। उन्होंने पूछा कि क्या वे उसका स्पर्श कर सकती हैं! अनुमति मिलने के बाद उन्होंने उन अक्षरों पर अपनी हथेली को रख दिया और आँखें मूँदे हुए मिनट भर ध्यान करती रहीं, मानो वे उस सुदूर प्राचीन काल के साथ अपने मन का कोई संयोग-सूत्र ढूँढ़ रही हों।

इसी प्रकार वे नालन्दा से एक साधारण-सी दिखने-वाली पुरानी ईंट तथा सारनाथ से एक छोटा-सा अनलंकृत पत्थर का टुकड़ा उठा लायी थीं और उन्हें बड़ी श्रद्धापूर्वक अपने अध्ययन की मेज पर रख दिया था। उनके लिये भारत के अतीत का सब कुछ असाधारण था; हर वस्तु कोई सांकेतिक अर्थ प्रकट करती थी। वे बाह्य आवरण की परवाह नहीं करती थीं, क्योंकि उन्होंने हर वस्तु के अन्तरंग में प्रवेश करना सीख लिया था।

*** *** ***

एक पंजाबी प्रचारक, जिसे आर्यसमाज से निकाल दिया गया था, उनके सामने तरह-तरह के विवादास्पद प्रश्न उठा रहा था, जैसा कि वह ईसाई मिशनरियों के समक्ष करने का

अभ्यस्त था। उन्होंने इसे धैर्यपूर्वक सहा। परन्तु जब उसने उन्हें 'मैडम साहिबा' कहकर सम्बोधित किया, तो उन्होंने बड़ी मृदुतापूर्वक, परन्तु व्यथित भाव से कहा, ''यदि तुम मुझे बहन कहो, तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी!''

*** *** ***

उन्होंने कहा था – ''शिक्षा! अहा, यही तो भारत की समस्या है – कैसे तुम्हें सच्ची और राष्ट्रीय शिक्षा दी जाय, कैसे तुम्हें परिपूर्ण मनुष्य बनाया जाय – यूरोपवासियों की भद्दी नकल नहीं, अपितु भारत के सच्चे सपूत बनाया जाय? तुम्हारी शिक्षा को बुद्धि के साथ ही हृदय तथा आत्मा का भी विकास करना होगा। इस शिक्षा द्वारा तुम्हारे, तुम्हारे अतीत और आधुनिक जगत् के बीच एक सजीव सम्बन्ध स्थापित करना होगा। तुम जिन आवासीय कॉलेजों तथा छात्रावासों के लिये चिल्ला रहे हो; मुझे नहीं लगता कि ये ऑक्सफोर्ड की आवासीय व्यवस्था के समान तुम्हारी शिक्षा को एक जीवन्त तथा स्वाभाविक वस्तु बना सकेंगी। तुम्हारे विश्वविद्यालय तथा तुम्हारी सरकार इन नये छात्रावासों को सैन्य छावनियों में तब्दील कर देंगी, जिनमें तुम्हारे बच्चों की अन्तरात्मा के चारों ओर बाड़ लगा दी जाएगी और उनका ऐसे अनेक प्रकार से दोहन किया जाएगा, जिनकी तुमने सपने में भी कल्पना नहीं की होगी। ऐसे छात्रावासों में उनका स्वाभाविक तथा पूरा विकास नहीं हो सकेगा।''

*** *** ***

उन्होंने कहा था – ''किसी भी विदेशी के समक्ष अपना ध्वज मत झुकाना। तुम जीवन के जिस भी क्षेत्र में कार्य करो, उसी में विशिष्टता पाने की कोशिश करो। ऐसा प्रयास करना कि तुम किसी विदेशी नमूने की नकल न बनो और किसी बाहरी विशेषज्ञ के सामने तुम्हें सिर न झुकाना पड़े। इस भावना को अपने हृदय में सदैव जाग्रत रखो।'' 'भारतीय कला' के शैशव काल में ही, जहाँ कहीं भी सच्ची कला दिखी, उसे उनके द्वारा दिये गये प्रोत्साहन की भी उपरोक्त उक्ति से व्याख्या हो जाती है।

*** *** ***

उन्होंने कहा था – ''महान् भारतमाता से प्रेम करने के लिये हमको उन्हें तथा उनके पुत्रों को जानना होगा। अपने नगर के विभिन्न वार्डों में युवकों की समितियाँ बनाओ और उनके द्वारा पिछड़े तथा अशिक्षित लोगों के घरों तथा मुहल्लों में ज्ञान, चिकित्सकीय सेवा तथा सफाई का कार्य चलाओ। इलाकों का विभाजन स्थान के अनुसार होगा, न कि जाति या सम्प्रदाय के आधार पर। ऐसी प्रत्येक समिति के हिन्दू तथा मुसलमान सदस्य यदि एक ही मुहल्ले में रहते हों, तो वे एक साथ मिलकर देश के लिये कार्य करेंगे। दोनों सम्प्रदायों के प्रति वर्तमान अलगाव केवल अंग्रेजी शिक्षित लोगों तक ही सीमित है और वह सरकारी दफ्तरों में उनकी स्पर्धा के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ है। तुम्हारे पूर्वजों के युग में ऐसा (भेदभाव) नहीं था। यह सुनकर मैं कितनी प्रसन्न हूँ कि ... बाबू के पिता के सबसे पुराने तथा घनिष्ठ मित्र उनके एक पड़ोसी मुसलमान जमींदार हैं!''

*** *** ***

एक सार्वजनिक व्याख्यान में उन्होंने कहा था – ''तुम्हारे देश के विकास तथा तुम्हारे राष्ट्र की उन्नति के ये ही साधन हैं। जब हम तुमसे इन्हें अपनाने को कहते हैं, तो तुम भय से सिकुड़ जाते हो और कहते हो, 'यदि हम ऐसा करें, तो दूसरे लोग हमारे साथ भोजन नहीं करेंगे; वे लोग हमारे बेटे-बेटियों के साथ विवाह-सम्बन्ध नहीं जोड़ेंगे।' मेरा उत्तर है, 'तुम जिन लोगों से डरते हो, वे मानवीय प्रगति के शत्रु हैं; तुम उन्हें अज्ञानी, निकृष्ट तथा देशद्रोही समझो। अत: उनके साथ भोजन करने में गौरव नहीं, बल्कि लज्जा का अनुभव करो। उनके साथ रक्त-सम्बन्ध जोड़ने को अपने रक्त का प्रदूषण समझो!'

(जो लोग भगिनी निवेदिता को प्रत्येक हिन्दू अन्ध-विश्वास तथा हमारी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का कट्टर समर्थक बताते हैं, वे वस्तुत: उन्हें नहीं जानते।)

*** *** ***

भारतीय पत्नियों के लिये उनका आदर्श अति उच्च था। उन्होंने कहा था – ''यदि तुम्हारी पत्नी भलीभाँति घर सँभालनेवाली, रसोई बनानेवाली और सेवा करनेवाली हो, तो इतने से ही तुम भला क्यों सन्तुष्ट हो जाओगे? ये चीजें अच्छी तो हैं, परन्तु सर्वश्रेष्ठ नहीं। तुम्हारी पत्नी को अपने पूर्णत: सच्चे स्थान की प्राप्ति के लिये तुम्हारी सर्वोच्च उपलब्धियों में भी तुम्हारी सहयोगिनी बनना होगा। उन्हें अपने शोध-प्रबन्धों के लेखन में भी सहभागी होने की शिक्षा दो। ... भारतीय समाज में पति को जो उच्च सम्मान तथा क्षमता प्राप्त है, उसके बारे में सोचकर ही मेरा सिर चकरा जाता है। यह एक बड़ी भयंकर बात है। यह स्त्री को बौना बना देती है। बहुधा मैं सोचती हूँ कि पत्नियाँ यदि कम मृदु तथा मधुर होतीं, तो यह स्वयं पतियों के ही लिये भी कहीं अधिक अच्छा होता।''

– एक्स. वाइ. जेड. ○○○

गीतातत्त्व चिन्तन (८/१४)

(आठवाँ अध्याय)

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के संस्थापक सचिव थे। उनका 'गीतातत्त्व चिन्तन' भाग-१,२, अध्याय १ से ६वें अध्याय तक पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है और लोकप्रिय है। ७वाँ अध्याय 'विवेक ज्योति' के मार्च, १९९१ अंक तक प्रकाशित हुआ था। अब प्रस्तुत है ८वाँ अध्याय, जिसका सम्पादन रामकृष्ण अद्वैत आश्रम के स्वामी निखिलात्मानन्द जी ने किया है । सं.)

अब २१वें श्लोक में कहते हैं –

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।२१।।

अव्यक्तः (अव्यक्त) अक्षरः (अक्षर) इति (इस नाम से) उक्तः (कहा गया है) तम् (उसी अक्षर नामक अव्यक्त भाव को) परमां गतिं (परम गति) आहुः (कहते हैं) (तथा) यम् (जिस सनातन अव्यक्त भाव को) प्राप्य (प्राप्त होकर) (मनुष्य) न निवर्तन्ते (वापस नहीं आते) तत् (वह) मम (मेरा) (परम धाम है)।

–"जो अव्यक्त (भाव) अक्षर इस नाम से कहा गया है, उसी को परम गति कहते हैं तथा जिस (अव्यक्त भाव) को प्राप्त होकर (जीव) फिर नहीं लौटते, वह मेरा परम धाम है।"

वह जो अव्यक्त है, हे अर्जुन, उसी को अक्षर कहा गया है। हम लोग ब्रह्मा के सन्दर्भ में जिस प्रकृति की चर्चा कर रहें हैं, वह क्षर है, नाशवान है, विनाशी है। उस अव्यक्त से भी जो सनातन अव्यक्त है, वही मेरा स्वरूप है। वह चैतन्यात्मक है, उसी को अक्षर ब्रह्म कहते हैं । उसी को परम गति कहते हैं – तमाहुः परमां गतिम्, जिसको प्राप्त कर लेने पर वापस नहीं आना पड़ता। अर्जुन, वही मेरा परम धाम है। भगवान यहाँ पर जोर देकर कहते हैं। यही मेरा परम धाम अव्यक्त कहलाता है। यहाँ पर जिस सनातन अव्यक्त की बात कही जा रही है, उसे कहीं भूलकर तू मेरी जड़ प्रकृति मत समझ लेना, जिसे अव्यक्त कहा गया है तथा जिसका नाश होता है। यह मेरी चैतन्यात्मक सत्ता है, जिसकी उपलब्धि कर तू मेरे परम धाम को प्राप्त कर लेगा, जहाँ पर पहुँचकर इस आवागमन की प्रक्रिया का अन्त हो जाता है। 'मेरा परम धाम' कहने से यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान और उनका धाम दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। अतएव इस धाम की प्राप्ति ग्रामादि की प्राप्ति के समान नहीं है। इस धाम को पाने का तात्पर्य है – भगवान को प्राप्त करना अर्थात् भगवत्स्वरूप हो जाना। यहाँ पर प्रभु श्रीकृष्ण हमें अक्षर ब्रह्म की प्रतीति करा दे रहे हैं।

फिर २२वें श्लोक में कहते हैं –

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।२२।।

पार्थ (हे पार्थ !) यस्य (जिसके) अन्तःस्थानि (भीतर) भूतानि (समस्त भूतगण हैं) (तथा) येन (जिसके द्वारा) इदम् (यह) सर्वम् (समस्त जगत) ततम् (व्याप्त है) सः (वह सनातन अव्यक्त) परः पुरुषः (परम पुरुष) तु (तो) अनन्यया (अनन्य) भक्त्या (भक्ति से) (ही) लभ्यः (प्राप्त होने योग्य है)।

–"हे पार्थ ! जिसके भीतर समस्त भूतगण हैं तथा जिसके द्वारा यह समस्त जगत व्याप्त है, वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होने योग्य है।"

वह परम पुरुष, वह परम धाम, जिसे परम गति कहा है, वह मैं ही हूँ। ये पुरुष कैसे प्राप्त होते हैं? **भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया** – वे अनन्य भक्ति से प्राप्त होते हैं। अनन्य का क्या अर्थ है? जहाँ पर मन दूसरा नहीं सोचता, दूसरे का चिन्तन नहीं करता, केवल उसी एक परम पुरुष का ही चिन्तन करता है, उसे अनन्य भक्ति कहते हैं। प्रभु कहते हैं कि ऐसी अनन्य भक्ति के द्वारा मैं प्राप्त होता हूँ। वे परम पुरुष कैसे हैं? उसके भीतर सारे प्राणी रहते हैं, अर्थात् वे आदि कारण हैं जिनके भीतर यह कार्यरूपी संसार अवस्थित है, साथ ही वे परम पुरुष मानो सभी में व्याप्त रहते हैं, जैसे चन्दन की सुगन्ध चन्दन की लकड़ी में सर्वत्र व्याप्त रहती है। इस बात को आप गीता में, उपनिषदों में बार-बार पढ़ेंगे। अंग्रेजी में इन्हें कहते हैं immanent और transcendent, Immanent का मतलब है सबके भीतर वही बैठे हुए हैं, समाए हुए हैं, इसको हम कहते हैं सर्वान्तर्यामी । Transcendent का अर्थ है - सर्वातीत।

इसका अर्थ यह हुआ कि सबके भीतर और सबके परे भी वही सत्ता विद्यमान है। इसीलिए साथ-साथ यह कहा जाता है कि वे immanent और transcendent दोनों ही हैं। वे मेरे भीतर भी हैं और बाहर भी हैं। इसका मतलब? तो फिर यह जो बीच में दिखाई देता है, वह क्या है? वह भी वे ही हैं। इस प्रकार के भाव यहाँ पर दर्शाए गए हैं। प्रभु श्रीकृष्ण ने उस परम पुरुष को पाने का रास्ता बता दिया कि वह अनन्य भक्ति के द्वारा प्राप्त किया जाता है। अब यह कहेंगे कि मनुष्य जब मरता है, तो एक रास्ता वह है, जिससे वह फिर से लौट आता है, फिर से जन्म लेता है। एक अन्य रास्ता वह है, जिससे जाने के बाद पुन: लौट कर नहीं आता, वह मुक्ति पा लेता है। उसको कहते हैं देवयान। पहले को कहते हैं पितृयान। यहाँ पर कहा है –

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिन: ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।।२३।।

भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ !) तु (तो) यत्रकाले (जिस काल में) प्रयाता: (प्रयाण करने पर) योगिन: (योगीजन) अनावृत्तिम् (वापस न लौटनेवाली गति को) च (और) [जिस काल में] आवृत्तिम् (वापस लौटनेवाली गति को) यान्ति (प्राप्त होते हैं) तम् (उस) कालम् (काल के विषय में) वक्ष्यामि (कहूँगा)।

–''हे भरतश्रेष्ठ ! जिस काल में (शरीर त्यागकर) गये योगीजन वापस न लौटनेवाली गति को तथा (जिस काल में) वापस लौटनेवाली गति को प्राप्त होते हैं, उस काल (अर्थात् दोनों गतियों के बारे में) मैं कहूँगा।''

कहते हैं देखो, ये दोनों के दोनों योगीजन हैं, एक रास्ते से जानेवाला योगी लौट कर नहीं आता। दूसरे रास्ते से जानेवाला लौट कर चला आता है। तो लौटकर आनेवाला योगी योगभ्रष्ट हो गया है। वह भी योगी है, साधक है, पर उसकी साधना फलवती नहीं हुई, सिद्ध नहीं हुई। इसीलिए वह लौटकर आता है। तो हममें से भी जितने भी लोग साधना करते हैं, वे भी इन्हीं दो मार्गों से जाते हैं। जो साधना नहीं करते ! वे तो तिर्यक योनि में जाते हैं। यहाँ प्रसंग केवल उनके लिए ही है, जो साधना करते हैं। देवयान और पितृयान, ये साधकों के लिए हैं। ऐसा मत समझिएगा कि एक बहुत पापी व्यक्ति भी यदि मरा, तो वह भी पितृयान से जाएगा, भले ही देवयान से नहीं। ऐसी बात नहीं है। ये देवयान और पितृयान के जो दो मार्ग बतलाए गए हैं, ये केवल पुण्यात्माओं के लिए ही हैं। जो पुण्यकर्मा हैं, जो शुभकर्म करते हैं, इनमें से जो निष्काम कर्म करनेवाले, भगवत्प्रीत्यर्थ साधना करनेवाले व्यक्ति हैं, वे तो देवयान से जाते हैं। जो सकाम भाव से साधना करनेवाले व्यक्ति हैं, पर पुण्य के रास्ते से चलते हैं। उनकी इच्छा शुभ है, भले ही वे उतनी कड़ी साधना न भी कर पाते हों। परन्तु फिर भी भगवान का भजन करते हैं, भले ही वे हर समय भगवान् का स्मरण न कर पाते हों। पर संसार में रहकर, काम-काज के बीच भी भगवान को पुकारने का समय निकाल लेते हैं। ऐसे जो लोग हैं, ये लोग पितृयान से जाएँगे। एक देवमार्ग और अन्य एक पितृ मार्ग। तो ये दोनों के दोनों पुण्यकर्माओं के लिए हैं। गर्हित कर्म करनेवाला व्यक्ति भी इसी रास्ते से जाएगा, ऐसी बात नहीं है। उसके लिए भिन्न रास्ता है। नर्क का क्या अर्थ है? वह ऐसा लोक है, जहाँ पर अत्यन्त अस्थिर मानसिक स्पन्दन हैं। वह गर्हित कर्म करनेवाला उन लोकों को जाएगा और अत्यन्त मानसिक कष्ट पाएगा। या फिर निम्न योनि अथवा पशु-पक्षी आदि तिर्यक योनि को जाएगा। परन्तु जो शुभ-कर्मा हैं, वे तो उक्त उन दो मार्गों से ही जाएँगे। एक रास्ता जिससे जाकर लौटकर नहीं आता तथा दूसरा रास्ता जिससे लौटकर कोई भी आता है।

इस श्लोक में 'योगिन:' शब्द महत्त्व का है। योगियों में कर्मयोगी, भक्तियोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी हो सकते हैं। तो योगी लोग क्या करते हैं? वे मरने के बाद या तो आवृत्ति का रास्ता पकड़ते हैं अथवा अनावृत्ति का। इसलिए भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं – हे भरतर्षभ, तेरे समक्ष मैं समझाकर बताऊँगा कि जो व्यक्ति जाता है, वह कैसी अवस्था में तो लौटकर नहीं आता है, कैसी अवस्था में वह लौटकर आता है।

अग्निर्ज्योतिरह: शुक्ल: षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना: ।।२४।।

(जिस मार्ग में) अग्निज्योति (ज्योतिर्मय अग्नि के अभिमानी देवता हैं) अह: (दिन के अभिमानी देवता हैं) शुक्ल: (शुक्ल पक्ष के अभिमानी देवता हैं) षण्मासा उत्तरायणम् (छ: महीने उत्तरायण रूप उत्तराभिमानी देवता हैं) तत्र (उस मार्ग में) प्रयाता: (गमन करनेवाले) ब्रह्मविद: जना: (ब्रह्मज्ञ पुरुष) ब्रह्म (ब्रह्म को) गच्छन्ति (प्राप्त होते हैं)।

–''जिस मार्ग में ज्योतिर्मय अग्नि के, दिन के, शुक्ल पक्ष के, छ: महीने उत्तरायण के अभिमानी देवता हैं, उस मार्ग से (शरीर-छोड़कर) गये हुए ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।'' **(क्रमश:)**

भारतीयता की प्रतिमूर्ति : भगिनी निवेदिता

राजलक्ष्मी वर्मा

प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भारत के सौन्दर्य, सम्पदा और आध्यात्मिक गरिमा से आकृष्ट होकर प्राचीनकाल से ही विश्व भर से सुधीजन, जिज्ञासु और पर्यटक इस देश में आते रहे हैं। कुछ लोग भ्रमण कर इस देश की स्मृतियों को हृदय में संजोकर वापस लौट गये और कुछ इस देश के आकर्षण में बंधकर यहीं के होकर रह गये। इनमें से अनेक ने भारत को अपना कर्मक्षेत्र बनाया और अनेक ने आध्यात्मिक, बौद्धिक और साहित्यिक दृष्टि से भारत की श्रेष्ठता को विश्वपटल पर प्रदर्शित और प्रतिष्ठित करने का महान कार्य भी किया, किन्तु भारत के इन विदेशी प्रशंसकों में एक नाम, एक व्यक्तित्व ऐसा है, जिसकी तुलना अन्य किसी से नहीं की जा सकती। यह नाम है मार्गरेट एलीज़ाबेथ नोबल का, जिन्हें हम 'भगिनी निवेदिता' के नाम से जानते हैं। विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द की 'मानसपुत्री' और शिष्या निवेदिता वे महिला हैं, जिन्होंने स्वयं को भारत के साथ एकात्म कर दिया, भारत जिनके हृदय का स्पन्दन बन गया, जिन्होंने भारत की हर व्यथा और हर पीड़ा को अपनी व्यथा और अपनी पीड़ा समझकर भोगा, इस देश के सुनहरे भविष्य के लिये न केवल स्वप्न देखे, अपितु उन्हें साकार करने के लिये अथक परिश्रम भी किया और अन्ततः अपना जीवन भी इस 'राष्ट्रयज्ञ' में होम कर दिया; जिन्होंने इस देश को एक भारतीय की ही तरह, बल्कि एक भारतीय से बढ़कर प्यार किया।

असाधारण व्यक्तित्व की धनी मार्गरेट का जन्म २८ अक्टूबर, १८६७ को उत्तरी आयरलैण्ड के एक छोटे-से कस्बे डंगानन में हुआ था। उनका परिवार स्कॉटिश मूल का था, जो पाँच शताब्दियों पहले आयरलैण्ड आकर बस गया था। मार्गरेट के व्यक्तित्व में हमें जिस गहरी आस्था, समर्पण, सेवाभाव और दृढ़ इच्छाशक्ति के दर्शन होते हैं, विपरीत परिस्थितियों में प्राणपण से संघर्ष करते हुए लक्ष्य की प्राप्ति करने के लिये जूझने का जो साहस दिखलाई देता है, वह उन्हें अपने परिवार और परिवेश से प्राप्त हुआ था। उनके पितामह श्री जॉन नोबल ने आयरलैण्ड के मुक्ति-संघर्ष में अग्रणी भूमिका निबाही थी। मार्गरेट के मातामह श्री हैमिल्टन ने भी आयरलैण्ड में 'होमरूल' के लिये किये गये आन्दोलन में सक्रियरूप से भाग लिया था। इस प्रकार दोनों ही परिवारों से उन्हें देशाभिमान और देश के लिये संघर्ष करने की प्रेरणा मिली थी। उनके पितामह श्री जॉन नोबल और पिता श्री सैम्युअल रिचमण्ड 'वेस्ले' प्रणाली के चर्च में धर्मगुरु के रूप में कार्य करते थे। बचपन से ही पिता के सात्त्विक जीवन और सेवाकार्यों का गहरा प्रभाव मार्गरेट के मन पर पड़ा था, जिसने उन्हें धर्म और धार्मिक कार्यों के प्रति निष्ठा और उत्साह से भर दिया था। मार्गरेट कुशाग्र बुद्धि की प्रतिभाशाली छात्रा थीं, सत्रह वर्ष की आयु में ही वे अपनी औपचारिक शिक्षा पूरी कर चुकी थीं। इसके बाद उन्होंने स्वतंत्र रूप से साहित्य, संगीत, कला, राजनीति और विज्ञान के विभिन्न विषयों का गहरा स्वाध्याय किया था। अध्यापन के क्षेत्र में उनकी बड़ी रुचि थी, और अठारह वर्ष की आयु से ही वे अध्यापन-कार्य करने लगी थीं। सन् १८९२ में उन्होंने अपनी स्वयं की एक पाठशाला खोली जहाँ उन्होंने शिक्षण के क्षेत्र में अभिनव प्रयोग किये, जो अत्यन्त सफल हुए। समय के साथ उनका अनुभव और बौद्धिक परिपक्वता बढ़ती गई। पठन-पाठन में रुचि रखने वाली मार्गरेट ने विभिन्न विषयों पर पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से लिखना शुरू किया। उनके लेखनकार्य को प्रशंसा मिलने लगी। वे अपने प्रभावशाली भाषणों के लिये भी प्रसिद्ध हो गईं। शीघ्र ही लन्दन के बौद्धिक परिवेश में एक विदुषी महिला, ओजस्वी वक्ता और सफल अध्यापिका के रूप में उनकी पहचान बन गई।

मार्गरेट नोबल का जीवन शायद ऐसे ही चलता रहता, यदि सन् १८९५ में स्वामी विवेकानन्द वेदान्त धर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए अमेरिका से लन्दन न पहुँचे होते। नवम्बर माह की एक ठण्डक-भरी दोपहर में मार्गरेट अपनी मित्र लेडी इसाबेल मार्गेसन के आमन्त्रण पर उनके घर उस 'हिन्दूयोगी' का व्याख्यान सुनने पहुँचीं, जो सर्वत्र चर्चा का विषय बने हुए थे। गैरिक वस्त्र पहने, मृदुता, भव्यता और स्वाभिमान से भरे आकर्षक व्यक्तित्व वाले स्वामीजी अपने पश्चिमी श्रोताओं और मित्रों के समक्ष धर्म के शाश्वत सत्यों की व्याख्या कर रहे थे। स्वामीजी के पहले व्याख्यान को सुनकर वे विशेष प्रभावित नहीं हुईं, किन्तु घर लौटकर जब उन्होंने उनकी बातों पर मनन किया, तो उन्हें उनके शब्दों में झलकता 'सत्य' का आलोक दिखाई पड़ा। फिर तो उन्होंने उनका प्रत्येक व्याख्यान सुना। उस समय मार्गरेट

चर्च-प्रायोजित ईसाई धर्म को लेकर अनेक सन्देहों में घिरी थीं। उन्हें लगता था कि वह प्रभु ईसा की शिक्षाओं को सही रूप में प्रस्तुत नहीं करता। मार्गरेट की भाँति समाज के अन्य प्रबुद्ध और संवेदनशील व्यक्तियों को भी यह लगता था कि ईसाई धर्म के अनेक सिद्धान्त और कर्मकाण्ड ऐसे हैं, जो ईसा मसीह के उपदेशों का वास्तविक मर्म स्पष्ट नहीं करते, न ही इस धर्म के अनुयायियों को उनसे धर्म की कोई वास्तविक प्रेरणा या प्रकाश प्राप्त होता है। मार्गरेट ने गिरिजाघरों और उनसे सम्बन्धित संस्थाओं से सम्बन्ध तोड़ लिये थे और ईसाई धर्म पर उनकी श्रद्धा समाप्त होने लगी थी। उनके अन्दर धर्म को लेकर एक गहरी बेचैनी थी। वे एक ऐसे धर्म की खोज में थीं, जो संकुचित मान्यताओं और रूढ़ियों से मुक्त हो, मानवीय हो और प्रभु ईसा की शिक्षाओं और मानवता का सही स्वरूप दिखला सके। सन् १८९५ में स्वामीजी से मिलने और उनसे वेदान्त दर्शन की व्याख्या सुनने के बाद उन्हें लगा कि ये ही वे महापुरुष हैं, जो उन्हें सत्य और धर्म का वास्तविक प्रकाश दिखला सकते हैं। मार्गरेट के उदार मनोभाव तथा सत्य के प्रति गहरी जिज्ञासा ने ही उन्हें स्वामीजी के वेदान्तपरक सिद्धान्तों और शिक्षाओं को पूर्णरूप से ग्रहण करने के लिये प्रेरित किया, तो भी उनके तार्किक मन ने सरलता से स्वामीजी की बातों को स्वीकार नहीं किया; उनके प्रत्येक भाषण के पश्चात् प्रश्न और प्रतिप्रश्न किये। स्वामीजी के उत्तरों पर गहनता से चिन्तन-मनन किया और उनकी सत्यता और प्रामाणिकता के प्रति पूर्णरूप से आश्वस्त होने पर ही उन्हें स्वीकार किया।

भिन्न सामाजिक और बौद्धिक परिवेश में पली-बढ़ी प्रखर बुद्धिवादिनी मार्गरेट के निवेदिता बनने में कुछ समय अवश्य लगा किन्तु स्वामीजी के असाधारण व्यक्तित्व और सत्य के प्रति उनकी अभ्रान्त पारदर्शी श्रद्धा, जो किसी चुम्बक की तरह लोगों के मन को अपनी ओर खींचती थी, ने उनके भीतर उस दिन से ही एक ऐसे आन्तरिक रूपान्तरण की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी जिसने उनके जीवन की दिशा ही बदल दी और परिणामत: उनका मानो पुनर्जन्म हुआ 'निवेदिता' के रूप में ! उस समय न उन्होंने, न ही किसी अन्य ने यह कल्पना की होगी कि एक समय ऐसा भी आयेगा, जब इंग्लैण्ड और 'यूनियन जैक' के प्रति प्रतिबद्ध मार्गरेट अपना सम्पूर्ण जीवन, अपना सर्वस्व पराधीन भारतभूमि को समर्पित कर स्वयं नि:स्व हो जायेगी। मार्गरेट की सत्य के प्रति इस निष्ठा और उनके व्यक्तित्व की गम्भीरता और दृढ़ता ने ही स्वामीजी के हृदय में उनके प्रति विश्वास और प्रशंसा का भाव जागृत किया होगा।

शिक्षा ही समाधान है

स्वामीजी के व्याख्यानों में दो ही बातें प्रमुख हुआ करती थीं, वेदान्त सिद्धान्त की सार्वजनीन और सार्वकालिक धर्म के रूप में व्याख्या तथा भारत के गौरवशाली अतीत के प्रति उनका गर्व और उसकी वर्तमान दुर्दशा के प्रति उनकी गहरी व्यथा और चिन्ता। उनके सम्पर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति उनकी इस पीड़ा और साथ ही उनके इस गौरवबोध से परिचित था। स्वामीजी भारत की सभी समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने में लगे हुए थे। प्रत्येक क्षेत्र में भारत के विकास और उन्नति के लिये उनके मन में एक योजना थी। उनका मानना था कि भारत के राष्ट्रीय मूल्यों की प्रतिष्ठा और उसके आध्यात्मिक चरित्र के प्रति उसे शिक्षित और सावधान करना उसके राष्ट्रीय गौरव की पुन: प्रतिष्ठा के लिये परम आवश्यक है, साथ ही भारतवासियों के जीवन में आई विकृतियों, अन्धविश्वासों और कुरीतियों को दूर करने के लिये उन्हें शिक्षित करना ही एकमात्र उपाय है। विशेषरूप से भारत की स्त्रियों को लेकर वे विशेष चिन्तित रहा करते थे, उनका मानना था कि भारत की स्त्रियाँ नैतिक दृष्टि से इतनी सबल हैं कि शिक्षित हो जाने पर वे अपने जीवन की सभी समस्याओं का हल स्वयमेव ही खोज लेंगी, उन्हें अन्य किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं रहेगी। स्वामीजी चाहते थे कि उनकी शिक्षा भारत के राष्ट्रीय मूल्यों और जीवनदर्शन को केन्द्र में रखकर हो, जिससे वे अपने देश की संस्कृति और उच्च जीवनादर्शों को समझ सकें। स्वामीजी के अनुसार सेवा और त्याग ही भारत के सर्वोच्च राष्ट्रीय मूल्य थे और उनकी प्रतिष्ठा के द्वारा ही भारत का पुनरुत्थान सम्भव था।

मार्गरेट नोबल के कर्मठ, प्रखर किन्तु आस्थावादी व्यक्तित्व से परिचित होने पर स्वामीजी को विश्वास हो गया कि वे ही इस कार्य के लिये सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति हैं और स्वामीजी ने उन्हें स्त्रियों को शिक्षित करने हेतु भारत आने का प्रस्ताव दिया। स्वामीजी की विद्वत्ता, उनके असाधारण व्यक्तित्व और उनके देशप्रेम की उत्कट भावना के प्रति सम्मान और श्रद्धा से भरी हुई मार्गरेट ने उत्साहपूर्वक भारत आना स्वीकार किया। उन्हें लगा यही वह ईश्वरीय आह्वान है, जिसकी वे विकलता से प्रतीक्षा कर रही थीं, यही वह लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति उनके जीवन का उद्देश्य है। २८ जनवरी, १८९६ को वे भारत पहुँची। जनवरी और मार्च के ढाई महीनों के बीच मानो विधाता ने उनके नवीन जीवन की प्रस्तावना लिख दी। घटनाक्रम बड़ी तेज़ी से घूमा। ११

मार्च को स्वामीजी ने कलकत्ते के स्टार थियेटर में मार्गरेट का एक भाषण रखा। उनका कलकत्तावासियों से परिचय कराते हुए स्वामीजी ने कहा, 'मार्गरेट नोबल के रूप में इंग्लैण्ड ने हमें और एक उपहार भेजा है।' इसके पहले भी अपने एक गुरुभाई को पत्र लिखते हुए उन्होंने कहा था कि 'मार्गरेट नोबल हमारे लिए एक बड़ी उपलब्धि हैं।' इस अवसर पर भाषण देते हुए मार्गरेट ने पहले तो विदेशों में भारत के धार्मिक जीवन-दर्शन के बढ़ते हुए प्रभाव के लिये स्वामीजी के प्रयत्नों और स्वयं उनकी व्यक्तिगत लोकप्रियता के विषय में विस्तार से बतलाया और फिर भारत की महान संस्कृति की प्रशंसा करते हुए कहा – "आप वे लोग हैं, जो समय के दीर्घ अन्तराल में सम्पूर्ण विश्व के लिये अत्यन्त मूल्यवान धरोहरों को सहेज कर रख पाये हैं और इसीलिये मैं सेवा की तीव्र लालसा लिये भारतवर्ष आई हूँ।"

१७ मार्च मार्गरेट के जीवन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दिन था। इस दिन उन्होंने संघमाता श्रीमाँ सारदामणि के दर्शन किये और श्रीमाँ ने अपने सहज वात्सल्य के साथ उन्हें अपनी बेटी के रूप में स्वीकार किया। उन्हें माँ के आशीर्वाद का सम्बल प्राप्त हुआ, जिसे लेकर वे कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी अपना कार्य सफलतापूर्वक कर सकीं और उस दिन से वे माँ की 'खूकी' (छोटी बच्ची) हो गईं। २५ मार्च १८९८ को स्वामीजी ने उन्हें ब्रह्मचर्य की दीक्षा प्रदान की और उन्होंने विधिवत् स्वामीजी का शिष्यत्व ग्रहण किया। स्वामीजी उन्हें मठ के मन्दिर में ले गये और उनसे भगवान शिव की अर्चना करवाई, उसके बाद उनका दीक्षा-संस्कार सम्पन्न हुआ। परम्परा के अनुसार स्वामीजी ने उन्हें नया नाम दिया – 'निवेदिता'। निवेदिता का अर्थ है 'ईश्वर को समर्पित'। इसके पश्चात् स्वामीजी ने उन्हें भगवान बुद्ध के चरणों में प्रणाम करने का आदेश देते हुए कहा – "जाओ, अब उनका अनुसरण करो, जिन्होंने बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व पाँच सौ बार जन्म लेकर प्राणियों के कल्याण के लिये अपना जीवन उत्सर्ग किया था।"

मार्गरेट से निवेदिता बनी स्वामीजी की यह शिष्या मानो 'मनसा वाचा कर्मणा' भारतीय थी। वह इतनी भारतीय थी जितने भारतीय शायद भारतीय भी नहीं थे। यह चमत्कार स्पष्टरूप से स्वामीजी का ही था। यह सम्भव ही नहीं था कि कोई स्वामीजी के प्रभावक्षेत्र में आये और भारत से प्रेम करना न सीखे, उनके निकट सम्पर्क में रहे और भारत को उसकी दुर्दशा और आत्महीनता से उबारने के लिये व्याकुल न हो उठे। स्वामीजी से जुड़े अनेक स्वदेशी-विदेशी भक्त और प्रशंसक इस कार्य में तत्पर थे और अपनी-अपनी तरह से इस कार्य में स्वामीजी की सहायता भी कर रहे थे, किन्तु निवेदिता इन सब से निराली थीं। स्वामीजी का मन ही मानो उन्होंने आत्मसात् कर लिया था। स्वामीजी का भारतप्रेम, भारत के लिये उनकी चिन्ता और व्याकुलता, भारत के लिये देखे गये उनके स्वप्न, सभी कुछ मानो उन्होंने उत्तराधिकार के रूप में निवेदिता को दे दिये और निवेदिता ने उस उत्तराधिकार को प्राणपण से सम्हाला भी। शास्त्रों में गुरु-शिष्य की आत्मीयता के लिये भृंगी-कीट का उदाहरण दिया जाता है। भृंगी यानी भौंरा जब किसी छोटे कीट को घेरकर गुंजार करते हुए उसके चारों ओर घूमता है, तो धीरे-धीरे वह गुंजार सुन कर वह कीट भी भौंरे की ही तरह गुंजार करने लगता है। यह भी कहा जाता है कि उस कीट का रूपान्तरण हो जाता है, उसके पर निकल आते हैं और वह भौंरा ही बन जाता है। लाक्षणिक अर्थ में ही सही, यह बात निवेदिता के साथ भी घटित हुई। वे मानो स्वामीजी का ही एक संस्करण बन गईं।

१३ नवम्बर १८९८ के दिन १६ बोसपाड़ा लेन में श्रीमाँ ने निवेदिता के स्कूल का उद्घाटन किया। श्रीमाँ ने श्रीरामकृष्ण देव की पूजा करने के पश्चात् विद्यालय को आशीर्वाद देते हुए कहा –"मैं प्रार्थना करती हूँ कि जगन्माता की कृपा इस विद्यालय और यहाँ की छात्राओं को प्राप्त हो और यहाँ से शिक्षा प्राप्त करने वाली बच्चियाँ आदर्श स्त्रियाँ बनें।" स्वामीजी के आदर्शों के अनुरूप निवेदिता के इस स्कूल में छात्राओं की शिक्षा पूरी तरह भारतीय परिवेश में होती थी। भाषा, वेशभूषा, परिवेश सभी कुछ भारतीयता की छाप लिये हुए था। छात्राएँ जमीन पर चटाइयों पर बैठ कर पढ़ती थीं, पढ़ने के लिये सामने छोटी-छोटी चौकियाँ होती थीं। प्रतिदिन 'वन्देमातरम्' के गायन के पश्चात् शिक्षा का क्रम शुरू होता था। निवेदिता छात्राओं के हृदय में सदैव राष्ट्रीय भावनाएँ और देशप्रेम जगाने का प्रयत्न करती थीं। भारत का कोई राष्ट्रीय प्रतीक या चिह्न निवेदिता के लिये इष्टदेवता के समान था, वे स्वयं तो उसका आदर करती ही थीं, अपनी छात्राओं को भी उनका महत्त्व समझाकर उनका सम्मान करना सिखलाती थीं। छात्राओं को पढ़ाते समय वे प्राय: रामायण, महान स्वामीजी के चरित्रों तथा भारत की विभिन्न यशस्वी विभूतियों का परिचय और उदाहरण देकर उन्हें उनके देश के गौरव से परिचित कराती थीं। एक बार की बात है। उन्होंने अपनी छात्राओं से पूछा कि भारतवर्ष की महारानी का नाम क्या है? छात्राओं ने तत्परता से उत्तर

दिया – 'महारानी विक्टोरिया'। अंग्रेजों के द्वारा शासित देश की रानी विक्टोरिया ही होंगी, उनका यह सोचना स्वाभाविक ही था। उत्तर सुनते ही निवेदिता दुख और क्षोभ से चीत्कार कर उठीं –''तुम लोगों को यह भी नहीं मालूम कि तुम्हारे देश की रानी कौन है?'' फिर समझाते हुए बोलीं ''इंग्लैण्ड की रानी विक्टोरिया कभी भी इस देश की रानी नहीं हो सकतीं। तुम्हारे देश की महारानी सीता हैं और वे ही सदैव इस देश की साम्राज्ञी रहेंगी।'' भारत के लिये निवेदिता के मन में कितनी श्रद्धा और आत्मीयता थी, इसका अनुमान इसी से लगता है कि वे प्राय: किसी पवित्र मन्त्र की भाँति 'भारतवर्ष, भारतवर्ष' शब्द का अस्फुट उच्चारण करती हुई आनन्द मग्न होकर मानो समाधिस्थ हो जाती थीं। उनके स्कूल में शिक्षा का माध्यम बंगला भाषा थी। बंगला भाषा से उन्हें बहुत प्रेम था। वे प्राय: अपनी छात्राओं से बंगला के नये नये शब्द सीखा करती थीं। स्कूल में बंगला, गणित, इतिहास, भूगोल, व्यक्तिगत स्वच्छता और थोड़ी अंग्रेजी की शिक्षा दी जाती थी। स्वामीजी का विचार था कि नारियों को शिक्षा देते समय भारत के राष्ट्रीय आदर्शों – त्याग और सेवा की उपेक्षा कदापि नहीं होनी चाहिए। उनकी शिक्षा में इन मूल्यों का स्थान सर्वोपरि होना चाहिये। निवेदिता ने सदैव इस बात का ध्यान रखा, उनका स्वयं का जीवन इन मूल्यों का सबसे बड़ा उदाहरण है। निवेदिता के भारत-आगमन के कुछ दिनों पश्चात् ही गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उन्हें अपनी छोटी पुत्री की शिक्षा-दीक्षा का भार देना चाहा था। वे चाहते थे कि वे आधुनिक मानकों के अनुसार अंग्रेजी माध्यम से उनकी पुत्री को शिक्षित करें। निवेदिता ने अस्वीकार करते हुए कहा था –'विदेशी आदर्शों और मानकों को किसी पर थोपने से क्या लाभ? असली शिक्षा वही है, जो व्यक्ति की नैसर्गिक क्षमताओं और राष्ट्रीय संस्कारों का विकास करे, और फिर वे भारत में नारियों को अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी संस्कृति की शिक्षा देने नहीं आई हैं।' सम्भवत: इस स्पष्ट अस्वीकृति ने ही बाद में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को प्राचीन भारतीय गुरुकुल प्रणाली के अनुरूप शान्तिनिकेतन विद्याश्रम की स्थापना की प्रेरणा दी होगी।

प्रारम्भ में अधिकांश अंग्रेजों की भाँति निवेदिता भी यही सोचती थीं कि अंग्रेजी शासन भारत के लिये हितकर है। भारत आने के बाद भी उनका यही विचार था, किन्तु जब उन्होंने शासन के नाम पर भारतवासियों का अपमान, दमन और उत्पीड़न देखा, तो वे अंग्रेज सरकार के प्रति क्षोभ और कटुता से भर उठीं, साथ ही भारतवासियों के प्रति उनका आदर और प्रेम और भी बढ़ गया। निवेदिता स्वभाव से अत्यन्त निर्भीक और साहसी महिला थीं। वे एक प्रभावशाली वक्ता और अच्छी लेखिका भी थीं। उन्होंने अपने लेखों के द्वारा इंग्लैण्ड में लोगों के सामने भारत में अंग्रेजी सरकार द्वारा किये जा रहे अन्यायपूर्ण कार्यों को प्रकट करने का बीड़ा उठाया। जब कभी वे विदेश गईं, उन्होंने अपने भाषणों के द्वारा भारत और भारतीय संस्कृति की सही तस्वीर लोगों के सामने प्रस्तुत की। क्योंकि ईसाई मिशनरियों के द्वारा भारत के विषय में बड़ा अनुचित और अनर्गल प्रचार किया जा रहा था। विशेषरूप से भारत की नारियों के पिछड़ेपन, दमन और अशिक्षा को लेकर बड़ी भ्रान्तियाँ फैलाई जा रही थीं। निवेदिता ने जगह-जगह सभाएँ आयोजित कर भारतीय नारियों की आदर्शनिष्ठता, मृदुता, सौम्यता, सेवापरायणता और त्यागपूर्ण आचरण के बारे में लोगों को बताया। लन्दन में (फरवरी १९०१) अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था – ''पृथ्वी पर एक भारतीय परिवार से अधिक श्रेष्ठ और सुखद कोई दूसरा समाज नहीं है।'' भारत में दिये गये अपने एक भाषण में नारियों के बारे में बोलते हुए उन्होंने कहा –''भारत की नारी को अज्ञानी और अशिक्षित कहना बहुत बड़ी भूल है। यद्यपि यह सच है कि कम ही नारियाँ लिख-पढ़ पाती हैं, पर क्या इतने भर से उन्हें अशिक्षित कहा जा सकता है? रामायण-महाभारत की वे कहानियाँ जो माताएँ अपने बच्चों को सुनाती हैं, क्या साहित्य नहीं हैं? भारतीय परिवार में पली-बढ़ी नारी अपनी गरिमा, सौम्यता, सादगी, धार्मिक आस्था और मन-मस्तिष्क के संस्कार की दृष्टि से अपनी आलोचना करने वालों की अपेक्षा कहीं अधिक शिक्षित और सम्भ्रान्त है।'

निवेदिता के मन में भारतीय परम्पराओं और सामाजिक मान्यताओं के लिये बड़ा आदर था। उन्होंने कभी तत्कालीन भारतीय समाज के सामाजिक परिवेश को हीन दृष्टि से नहीं देखा। उस समय हिन्दूसमाज में छुआछूत, आचार-विचारसम्बन्धी रूढ़ियाँ बहुत दृढ़ थीं। उनके स्कूल की छात्राएँ, जो निवेदिता को अत्यन्त प्रिय थीं और जिन्हें निवेदिता बड़ी प्रिय थीं, वे भी विदेशी होने के कारण उनके हाथों से प्रसाद या पानी तक ग्रहण नहीं करती थीं। हिन्दू विधवा कन्याओं के लिये तो ये नियम और भी कठिन थे, किन्तु निवेदिता ने उनके आचरण से कभी स्वयं को अपमानित अनुभव नहीं किया, न ही वे दुखी या क्षुब्ध हुईं, बल्कि इसे वे हिन्दू नारियों के आत्मानुशासन के रूप में देखती थीं और उनके संयम की प्रशंसा करती थीं। स्कूल

में जब पहली बार सरस्वती-पूजा का आयोजन हुआ, तो देवी को बिना कटे फलों और मिठाइयों का नैवेद्य ही अर्पण किया गया, अन्न का नहीं। निवेदिता और उनकी सहयोगी अध्यापिका क्रिस्टीन पूजास्थल के समीप भी नहीं गईं, किन्तु धीरे-धीरे पारस्परिक प्रेम की गंगा में सारे विधि-निषेध स्वयं ही बह गये और अगले साल सरस्वती-पूजा में देवी को 'लूची तरकारी' का भोग लगा और छात्राएँ स्वयं आग्रह कर निवेदिता को पूजास्थल पर ले आईं, सबने साथ बैठकर भगवती का प्रसाद ग्रहण किया। वस्तुत: यह निवेदिता की उदारचित्तता और अहंकारशून्य समर्पण का ही निदर्शन है, जिसने भारतीयों का मन जीत लिया। भारत और भारतीय जैसे भी थे, उनके अपने थे। वस्तुत: निवेदिता का जीवन नि:स्वार्थ सेवा और आत्मत्याग का अद्‌भुत उदाहरण है। किसी भी आपदा की स्थिति में वे परिणाम की चिन्ता किये बिना स्वयं को सेवाकार्य में झोंक देती थीं। सन् १८९९ में जब कलकत्ते में प्लेग एक महामारी के रूप में फैला, तो स्वामीजी की इच्छानुसार राहतकार्य के लिये संन्यासियों का एक दल गठित किया गया। निवेदिता ने उनके साथ कार्य करते हुए रोगियों की सेवा-शुश्रूषा और बस्तियों की गन्दगी साफ करने का दायित्व लिया। अपने हाथ में टोकरी और झाड़ू लेकर वे स्वयं कूड़ा साफ करतीं और प्लेग के गम्भीर रोगियों की सेवा भी करतीं। उन्हें इस बात की कोई चिन्ता नहीं थी कि इस तरह वे अपने लिये कितना गम्भीर खतरा मोल ले रही हैं। भारत के लोगों से उन्हें असीम स्नेह था। पूर्वी बंगाल में जब भयंकर बाढ़ आई और परिणामस्वरूप बहुत बड़ा अकाल पड़ा, जो आज भी इतिहास में 'बंगाल का अकाल' नाम से प्रसिद्ध है', निवेदिता अपनी अस्वस्थता के बावजूद राहतकार्य के लिये वहाँ गईं और घुटने-घुटने पानी और कीचड़ से होकर एक-एक दरवाजे तक सहायता पहुँचाने गईं। उन विपत्तिग्रस्त असहाय व्यक्तियों के लिये वह एक 'आत्मीय स्वजन' बन गईं, जिनसे वे नि:संकोच होकर सेवा-सहायता ग्रहण करते थे। इसके बाद निवेदिता को अनेक बार मलेरिया हुआ जिसने उनके स्वास्थ्य को धीरे-धीरे तोड़ दिया।

अपना स्कूल चलाने के लिये निवेदिता को पैसे जुटाने होते थे। वे किताबें तथा पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखकर धनार्जन करती थीं। उनका अपना जीवन कठोर तपश्चर्या और संयम का था, विलासिता तो दूर, विश्राम का भी कोई अवकाश नहीं था। कभी-कभी यह स्थिति आ जाती थी कि उन्हें अपना दो समय का थोड़ा-सा भोजन भी किसी असहाय या बीमार व्यक्ति को देना पड़ता था। कभी दो फल खाकर दिन काट देती थीं, कभी भूखा भी रहना पड़ता था। बोसपाड़ा लेन के उस सीलन भरे घर और आस-पास के अस्वास्थ्यकर परिवेश में वे उमस भरे कमरे में, जहाँ पंखा नहीं था, घण्टों आत्मविस्मृत होकर पत्र-पत्रिकाओं के लिये लेख लिखा करती थीं, ताकि स्कूल चलाने का खर्च निकल सके। उनके व्यक्तिगत निर्वाह के लिये लन्दन में रहने वाली उनकी एक मित्र कुछ धनराशि भेजती थीं, किन्तु वह भी दूसरों पर ही खर्च हो जाती थी। उनके शारीरिक स्वास्थ्य पर इसका चाहे जितना कुप्रभाव पड़ा हो, उनकी संकल्पशक्ति और लक्ष्य के प्रति उनका उत्साह प्रबल से प्रबलतर होता गया। स्वामी विवेकानन्द के देहावसान के पश्चात् निवेदिता को लगा कि उनके गुरु का राष्ट्रनिर्माण का स्वप्न अब उन्हें ही पूरा करना है। स्वामीजी की दृष्टि में राष्ट्रनिर्माण का आधार था व्यक्ति का निर्माण। किसी उच्च लक्ष्य को पूरा करने के लिये मनुष्य में आत्मिक साहस और चारित्रिक बल का होना आवश्यक है। इसके लिए निवेदिता ने भारतवर्ष में विभिन्न स्थानों पर जा-जाकर युवकों को सम्बोधित करना प्रारम्भ किया। उनकी वाणी में वही तेजस्विता और आह्वान का स्वर होता था, जो स्वामीजी के भाषणों में हुआ करता था, मानो उनकी वाणी में स्वामीजी का ही कण्ठस्वर गूँज जाता था। पटना में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था – मुझे युवकों के मुख पर अपार शान्ति देखकर बहुत कष्ट होगा। मैं आप लोगों को कुश्ती लड़ते हुए और तलवारबाज़ी का अभ्यास करते हुए देखना चाहूँगी। हमें शक्तिशाली युवकों की आवश्यकता है।...नायक वही है जो संघर्ष करे और अपना सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन करते हुए अपने से श्रेष्ठ योद्धा से ही पराजित होने में सुख का अनुभव करे। ध्यान रखना कि जब युद्ध का तूर्यनाद हो, तुम सोते हुए न मिलो।'' स्वामीजी की ही भाँति वे युवकों में देशप्रेम की भावना जगाते हुए कहती थीं – ''इन दुर्बल युवकों से देश का क्या भला होगा, जो स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर पाते। ये अपनी माता-बहनों की रक्षा कैसे कर सकेंगे? इस कचरे के ढेर से समाज का कुछ भी कल्याण नहीं होने वाला। राष्ट्र को समर्पित युवकों की आवश्यकता है, जो शरीर और मन दोनों से शक्तिशाली हों। देश को ऐसे लोगों की कोई जरूरत नहीं है, जो अपने विदेशी मालिकों की चाकरी करें और अपने देशवासियों को प्रताड़ित करें। शक्तिशाली देशभक्त युवा ही इस देश को ऊँचा उठा सकते हैं।'' इन शब्दों को सुनकर स्वामीजी के 'मसल्स ऑफ़ आयरन एण्ड नर्व्स ऑफ़ स्टील' शब्दों का

स्मरण हो आता है।

भारत के स्वाधीनता-संघर्ष से भी निवेदिता आन्तरिकता से जुड़ी रहीं। जब वे भारत आई थीं, तब उन्हें भी यही लगता था कि अंग्रेजी शासन भारत के लिये हितकर है, किन्तु धीरे-धीरे वे अनुभव करने लगीं कि भारत की उन्नति तभी हो सकती है, जब वह विदेशी शासन से मुक्त हो। क्योंकि भारत की अवनति और दुर्दशा का मूल कारण शताब्दियों से चली आ रही दासता ही है। १९०५ में जब बंगभंग का प्रस्ताव पहली बार आया, तो देश में खलबली मच गई। अनेक क्रान्तिकारी युवक खुलकर इसका विरोध करने लगे। इन क्रान्तिकारी युवकों के नेता श्री अरविन्द घोष थे। अरविन्द निवेदिता के घनिष्ठ सम्पर्क में थे। वे समय-समय पर न केवल उन्हें परामर्श देती थीं, अपितु उन्हें ब्रिटिश सरकार के कोप और दमन से बचाने का भी पूरा प्रयत्न करती थीं। वे क्रान्तिकारियों से सहानुभूति रखती हैं और उनकी सहायता भी करती हैं, इस बात का सन्देह ब्रिटिश सरकार को भी हो गया था और निवेदिता को गिरफ्तारी से बचने के लिये कई बार वेश बदल कर रहना होता था। राजनीति में इस सक्रियता के कारण निवेदिता को जीवन का सर्वाधिक पीड़ादायक निर्णय भी लेना पड़ा; उन्हें रामकृष्ण मिशन से अपना सम्बन्ध औपचारिक रूप से तोड़ना पड़ा, क्योंकि रामकृष्ण मिशन सन्यासियों का संघ था, जिसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता था, पर यह औपचारिकता मात्र ही थी, निवेदिता का संघ से हार्दिक सम्बन्ध तो सदैव ही बना रहा और वे जीवन भर 'रामकृष्ण विवेकानन्द की निवेदिता' ही रहीं।

भारत के विकास की जो सर्वांगीण अवधारणा स्वामीजी के मन में थी वह बड़ी व्यापक थी। वह शिक्षा, सामाजिक सुधार और अध्यात्म तक ही सीमित नहीं थी। वे विज्ञान, कला, शिल्प, इतिहास अर्थात् राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र में भारत का विकास भारतीय मूल्यों और प्रतिमानों के अनुरूप चाहते थे। भारतीयता की प्रतिष्ठा को वे 'समग्र क्रान्ति' के रूप में देखते थे। निवेदिता ने अपने गुरु की इस व्यापक कल्पना को मूर्त्तरूप देने की हर सम्भव चेष्टा की। जहाँ, जिस क्षेत्र में वे अपनी शक्ति, श्रम, क्षमता और प्रभाव का उपयोग कर सकीं, उन्होंने किया। इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं – प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र बोस का परिचय निवेदिता से १८९८ में हुआ था, तब तक वे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे, किन्तु पराधीन देश का नागरिक होने के कारण उन्हें अपने वैज्ञानिक कार्यों के प्रकाशन और प्रचार-प्रसार में तरह-तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। निवेदिता ने इंग्लैण्ड में अपने परिचय और प्रभाव का उपयोग कर न केवल इन बाधाओं को दूर किया, अपितु उनकी पुस्तकों के लेखन और सम्पादन में भी उनकी सहायता की। निवेदिता का विचार था कि भारत के पुनर्जागरण के लिये भारतीय कला और शिल्प की प्रतिष्ठा बहुत आवश्यक है। बीसवीं शती के प्रारम्भ में शुरू हुए 'बंग-कला-आन्दोलन' या बेंगाल स्कूल ऑफ आर्ट की वे प्रेरणा थीं। प्रत्यक्ष व परोक्षरूप से वे निरन्तर श्री अवनीन्द्रनाथ, श्री कुमारस्वामी, असितकुमार हालदार, नन्दलाल बोस जैसे शिल्पकारों और चित्रकारों को प्राचीन भारतीय कला-मानकों के अनुसार शिल्प और चित्ररचना के लिये प्रेरित करती रहीं। असितकुमार हालदार और नन्दलाल बोस जैसे युवा चित्रशिल्पियों को अजन्ता की चित्रकला का अध्ययन करने के लिये उन्होंने स्वयं भेजा और यात्रा का व्ययभार भी उन्होंने स्वयं ग्रहण किया। उन्होंने प्रसिद्ध इतिहासविद् जदुनाथ सरकार को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे भारत का इतिहास भारत की दृष्टि से लिखें, भारत के शासकों की दृष्टि से नहीं और ये सब उन्होंने अपने गुरु विवेकानन्द के राष्ट्रजागरण के स्वप्न को पूरा करने के लिये किया।

भगिनी निवेदिता का व्यक्तित्व एक अद्भुत व्यक्तित्व है। वे वास्तविक अर्थ में स्वामी विवेकानन्द की 'मानस सन्तान' हैं, तभी तो श्रीमाँ उन्हें 'नरेनेर मेये'– 'नरेन्द्र की बिटिया' कहकर सम्बोधित करती थीं। वे कहती थीं, निवेदिता तो इसी देश की है। वह उस देश (पश्चिम) में केवल उनके (श्रीरामकृष्ण के) विचारों और सन्देश का प्रचार करने के लिये ही जन्मी है। निवेदिता का मानो स्वामीजी के अतिरिक्त कोई और अस्तित्व ही नहीं था। कोई भी अन्य विदेशी महिला भारत के धर्म, संस्कृति और संस्कारों को, उसके स्वप्नों को और उसकी व्यथा को इस तरह नहीं अपना सकी, कोई भी अन्य व्यक्ति भारत के लोगों की आशा-आकांक्षाओं को इस तरह नहीं समझ सका, न ही मलिनवसना भारतमाता की शाश्वत दिव्य प्रतिमा का साक्षात्कार कर सका। निवेदिता का भारतप्रेम, भारत के लिये उनका त्याग और आत्मबलिदान इतना और ऐसा है कि उन्हें 'विदेशी' कहना एक गुरुतर अपराध है। उनके गुरु स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा था – "तुम भारत की भावी सन्तानों के लिये स्वामिनी, सेविका और बान्धवी सब कुछ बनो।" वे ये सब तो बनी ही, कुछ और भी बनीं, वे भारत की वाणी, भारत का मन हो गईं। ○○○

ईश्वर : एक महान आश्चर्य

स्वामी श्रद्धानन्द

अनुवाद : लक्ष्मीनारायण इन्दुरिया, भोपाल

विभिन्न पथ जो ईश्वर की ओर ले जाते हैं, उनमें निश्चित ही आश्चर्य का स्थान प्रथम होना चाहिए। ऊँची पर्वत शृंखलाएँ, सूर्यास्त का अद्‌भुत दृश्य, अनन्त सागर, जंगल और उपजाऊ पठार, ये सब मन को आश्चर्य की भावभूमि में ले जाते हैं। हम प्राकृतिक जगत को देखकर प्रश्न करते हैं – इस जगत का स्रष्टा कौन है और कौन इसके क्रिया-कलापों को नियन्त्रित कर रहा है? भीतर से एक उत्तर आता है – इस सृष्टि के पीछे एक विराट चैतन्य सत्ता विद्यमान है, क्योंकि हम पाते हैं, प्रत्येक वस्तु नियमों, सिद्धान्तों एवं सुनियोजित रूप से संचालित हो रही है।

आश्चर्य का यह भाव हमें ईश्वर-अनुसन्धान हेतु प्रेरित करता है। एक वैज्ञानिक जो प्रकृति के रहस्यों को उद्‌घाटित करने का प्रयास करता है, यदि वह ईश्वर के विलक्षण कार्यों के प्रति श्रद्धावनत है, तो प्रकृति अपने रहस्यों को प्रकट कर देगी, क्योंकि ईश्वर से प्रेम के कारण उसका अहं शमित हो गया है।

आप आइन्स्टाईन की विनम्रता की कल्पना कीजिए, जिन्होंने अपने वैज्ञानिक शोध के फलस्वरूप एक दिव्य चैतन्य सत्ता पर दृढ़ विश्वास किया। इसी प्रकार आइजक न्यूटन ने बौद्धिक ज्ञान से समुद्र की विशालता की तुलना करते हुए यह घोषणा की – "वे धन्य हैं, उन्हें समुद्र किनारे के कुछ स्फटिक चुनने का सौभाग्य मिला।" ऐसे विचार हमें विश्वस्त करते हैं कि व्यक्ति जितना अधिक ईश्वर की अद्भुत कृति प्रकृति के समीप जायेगा, वह उतना ही अनन्त के समीप पहुँचेगा। मनुष्य के अहंकार की क्षुद्रता सीधे अनुपात में कम होती है। अहंकार ब्रह्माण्ड से सीमाबद्ध है, लेकिन दृश्य और अदृश्य वस्तुओं के पीछे विद्यमान अदृश्य चैतन्य सत्ता निरन्तर अनन्त चमत्कार कर रही है।

विश्व के महान ग्रन्थ ईश्वरीय चमत्कार के आध्यात्मिक महत्त्व पर चिंतन के लिये जोर देते हैं। श्रीरामकृष्ण एक भारतीय साधु का वर्णन करते हैं, जो नदी के किनारे एक छोटी कुटिया में रहते थे। उनकी नित्य पूजा का क्रम था – वे प्रतिदिन दिन भर अपनी कुटिया में रहकर सूर्यास्त के समय बाहर आकर हाथ जोड़ श्रद्धापूर्वक आश्चर्य के साथ आँखे उठाकर पश्चिम में आकाश की ओर बार-बार दुहराते थे –"तुम कितने आश्चर्यमय हो !" वे बहुत देर तक नीरवता और सुन्दरता को आत्मसात् करते हुए गहन ध्यान में स्थिर खड़े रहते।

ध्यान एवं चिन्तन के लिये यह एक उत्तम आध्यात्मिक साधना है, इससे व्यक्ति ईश्वर की महिमा की झलक प्राप्त करता है, जो बालू के कणों की संख्या से अधिक है। आश्चर्य-भाव से ईश्वर की खोज करते हुए, ईश्वर को इन विविध विचित्रताओं से ढूँढ़ते हुए साधक ईश्वर के निराकर भाव की ओर आकृष्ट होता है और ध्यान के द्वारा वह उस दिव्य चैतन्य सत्ता से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करता है, जो शुद्ध, निराकार, देश, काल और प्रकृति के सभी कार्यकलापों को नियन्त्रित करता है। ऐसे चिन्तन को, भारतीय भक्तिशास्त्र में 'शान्त' या ईश्वर से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध कहा गया है।

जीवविज्ञान एवं शारीरिक संरचना सम्बन्धी अध्ययन ने भौतिक शरीर की विचित्रता को सिद्ध कर दिया है। हम ईश्वर को एक सर्वश्रेष्ठ कलाकार के रूप में मान सकते हैं, जिन्होंने मनुष्य के अनगिनत रूप बनाए हैं, जिसमें एक भी दूसरे की नकल नहीं है।

हम दम्भपूर्वक अपनी रचनात्मक क्षमता का वर्णन कर सकते हैं, लेकिन एक आकर्षक गुंजन पक्षी (हमिंग बर्ड) बनाने की हमारी क्षमता नहीं है। जहाँ तक ज्ञात है, ईश्वर ने इस प्रजाति के १५७ प्रकार बनाए हैं।

अनन्त चैतन्य सत्ता निरन्तर सृष्टि और प्रलय कर रही है। परिवर्तन भौतिक पदार्थ का नियम है, जीवन और मृत्यु दोनों सृष्टि के खेल हैं। हमारा वास्तविक स्वरूप ईश्वर ही हैं, जो अपरिवर्तनशील और शाश्वत हैं। यह ईश्वर का अतिरिक्त चमत्कार है।

ऊर्जा का असीमित भंडार, जिसका न आदि है न अन्त, यह ईश्वर का दूसरा चमत्कार है। हम बाईबिल के प्रथम पुस्तक में पढ़ते हैं – "ईश्वर ने कहा 'यहाँ प्रकाश हो' और वहाँ प्रकाश था।" ईश्वरीय विचार भौतिक स्वरूप में प्रकाश की गति से परिवर्तित होता है।

ईश्वर पूर्ण अनासक्ति से रचना करते हैं। जैसे हमारा आध्यात्मिक विकास होता है, हम भी दैवी अनासक्ति में

सहभागी होने लगते हैं, जो सांसारिक आसक्ति को निष्प्रभावी कर देता है। ईश्वर ने विश्व-ब्रह्माण्ड को प्रक्षेपित किया है और वे पल भर में इसे समेट सकते हैं।

ईश्वरीय चमत्कार का अन्य उदाहरण मानव मन है, जो सृष्टि की सुन्दरता का धुंधला प्रतिबिंब है। भारतीय मतानुसार मन तीन तत्त्वों – रज, तम और सत्त्व से निर्मित है। जब मन, भोग-विलास की कामनाओं और सांसारिक विक्षेपों से मथित या क्षुब्ध होता है, तब रजोगुण का प्रभाव प्रगट होता है। जब मन जड़, सुस्त और शीघ्रता से भ्रमित हो जाता है, तब तमोगुण अपने आप को प्रगट करता है। सत्त्वगुण से चित्त शान्त स्थिति में रहता है, जो हमें सन्तुलित निर्णय तथा स्पष्ट समझ देता है।

यद्यपि इन तत्त्वों के कारण मानव मन निरन्तर गतिशील रहता है, लेकिन उसका क्षेत्र व्यापक है। उसका विस्तार शेक्सपीयर, न्यूटन और ऐसे ही बहुत से विद्वानों से लेकर अधिकतर मानवों तक है, जिनकी योग्यता उनसे काफी कम है, लेकिन फिर भी वे सभी परमात्मा के अंश से कम नहीं हैं।

प्रत्येक मानव मन सही आध्यात्मिक मार्गदर्शन द्वारा परम ऊँचाईयों तक उठने में सक्षम है, वह देश, काल और कार्य-कारण की सीमाओं को छूने में सक्षम है, वह ईसामसीह, बुद्ध और श्रीकृष्ण की परम शान्ति शक्ति और दयाभाव प्राप्त कर सकता है।

आश्चर्य का दूसरा विशेष प्रमुख कारण है कि सभी जीवों में केवल मनुष्य ही सौभाग्यशाली है, जिसमें वह आध्यात्मिक क्षमता है, जिससे वह स्वयं ईश्वर की अनुभूति कर सकता है। उपनिषद कहते हैं कि देवताओं में भी यह क्षमता नहीं हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि भगवद्गीता के दसवें अध्याय में वर्णित ईश्वरीय चमत्कारों में सबसे बड़ा चमत्कार है, ईश्वर का मनुष्य बनना। अन्ततः जब हमें आत्मज्ञान होगा, तब हमें यह अनुभूति होगी कि हमें आश्चर्यचकित करनेवाली सभी वस्तुएँ वास्तव में ईश्वर की अभिव्यक्ति थीं। जब हम माया के ढकनेवाले आवरण को हटा सकेंगे, और कह सकेंगे, 'मैं वह हूँ', तब हम अपने अज्ञान के आवरण से मुक्त हो जायेंगे। ईश्वर आश्चर्य है, इस पर चिंतन करते हुए हमारे लिए यह ईश्वरीय लीला समाप्त हो जायेगी।

आत्मबोध

श्रीशंकराचार्य

(अनुवाद : स्वामी विदेहात्मानन्द)

अनणवस्थूलमह्रस्वमदीर्घमजमव्ययम् ।
अरूपगुणवर्णाख्यं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ।।६०।।

पदच्छेद – *अनणु अस्थूलम् अह्रस्वम् अदीर्घम् अजम् अव्ययम् अरूप-गुण-वर्ण-आख्यम् तत् ब्रह्म इति अवधारयेत् ।*

अन्वयार्थ – **अनणु** जो न सूक्ष्म है, **अस्थूलम्** न स्थूल, **अह्रस्वम्** न छोटा है, **अदीर्घम्** न बड़ा; (जो) **अजम्** अजन्मा है, **अव्ययम्** अक्षय है; (और जो) **अरूप-गुण-वर्ण-आख्यम्** रूप, गुण, रंग तथा नाम से रहित है; **तत्** उसी को **ब्रह्म इति** ब्रह्म **अवधारयेत्** समझो ।

श्लोकार्थ – जो न सूक्ष्म है, न स्थूल, न छोटा है, न बड़ा; (जो) जन्मरहित तथा अक्षय है; (और जो) रूप, गुण, रंग तथा नाम से रहित है; उसी को ब्रह्म समझो ।

यद्भासा भास्यतेऽर्कादि भास्यैर्यत्तु न भास्यते ।
येन सर्वमिदं भाति तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ।।६१।।

पदच्छेद – *यत् भासा भास्यते अर्कादि भास्यैः यत् तु न भास्यते येन सर्वम् इदं भाति तत् ब्रह्म इति अवधारयेत् ।*

अन्वयार्थ – **यत्** जिसके **भासा** प्रकाश से **अर्क आदि** सूर्य आदि **भास्यते** प्रकाशित होते हैं, **तु** परन्तु **यत्** जो (अपने स्वयं के) **भास्यैः** प्रकाशों से **न भास्यते** प्रकाशित नहीं होते, **येन** जिसके द्वारा **इदं** यह **सर्वं** सब कुछ **भाति** प्रकाशित होता है, **तत्** उसी को **ब्रह्म इति** ब्रह्म **अवधारयेत्** समझो ।

श्लोकार्थ – जिसके प्रकाश से सूर्य, चन्द्रमा आदि प्रकाशित होते हैं, परन्तु जो (अपने स्वयं के) प्रकाशों से प्रकाशित नहीं होते, जिसके द्वारा यह सब कुछ प्रकाशित होता है, उसी को ब्रह्म समझो ।

विम्बलडन की मार्गरेट

एरिक हेमण्ड

(श्री एरिक तथा श्रीमती नेल हेमण्ड लंदन के उपनगरीय क्षेत्र में स्थित विम्बलडन में मिस मार्गरेट नोबल अर्थात् भगिनी निवेदिता के कुछ घनिष्ठ मित्रों में थे। उन्हें अत्यन्त निकट से मार्गरेट को देखने का सौभाग्य मिला था। निवेदिता के दिवंगत होने के लगभग सोलह वर्षों बाद अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के १९२७ ई. (पृ. ५५५-५८) में प्रकाशित निम्नलिखित संस्मरण उनके जीवन के कुछ अज्ञात पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। इसका हिन्दी अनुवाद विवेक-ज्योति के पूर्व-सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

लगभग २५ वर्षों पूर्व, बाद में भगिनी निवेदिता के रूप में परिचित होनेवाली मिस मार्गरेट नोबल लंदन के उपनगरीय क्षेत्र में स्थित विम्बलडन में बालिकाओं का एक स्कूल चलाया करती थीं। उनमें शिक्षा देने तथा योग्य अध्यापकों को चुनने तथा उन्हें प्रशिक्षित करने की एक उल्लेखनीय क्षमता विद्यमान थी। बौद्धिक ऊर्जा से परिपूर्ण, उनका आकर्षक तथा सबल व्यक्तित्व – आपाद-मस्तक प्राणवन्तता को अभिव्यक्त करता था। वे छात्राओं में भी अपना उत्साह संचारित कर देती थीं। साहित्य के प्रति अपने लगाव के चलते उन्होंने असंख्य ग्रन्थों को पढ़ डाला था और लेखकों के मनोभाव ग्रहण करने में उन्हें जरा भी समय नहीं लगता था। उनकी वाणी में संगीत और उच्चारण में सम्मोहन था। प्रत्येक शब्द को उसका यथायोग्य सम्मान प्रदान करने के लिये वे इतनी दृढ़प्रतिज्ञ थीं कि उनके द्वारा प्रशिक्षित विद्वानों को, आज भी उन लोगों की उच्चारण की स्पष्टता के द्वारा पहचाना जा सकता है।

१८९० ई. में, उस समय उनके साहित्य-प्रेम को और भी बल मिला, जब उन्होंने अपने सहभावी लोगों को एकत्र किया और आपस में मिलकर 'विम्बलडन लिटरेरी सोसायटी' की स्थापना की, जो दुर्भाग्यवश अब अपनी अन्तिम साँसें ले चुकी है।

उनका मौलिकता से लगाव था और प्रचलित रीति-रिवाजों पर वे मुस्कुराती थीं। उनकी छात्राओं के संरक्षक उनके इस दृष्टिकोण से व्यथित हो जाते थे, उदाहरणार्थ – एक बार जब उन्होंने अपने बैठकखाने के अलाव के निकट की ताक पर एक काँसे की बुद्ध-मूर्ति रखने की जिद की थी, तो ऐसा ही हुआ था। उन्हें तर्क-वितर्क तथा वाद-विवाद में आनन्द आता था। उन्हें ऐसा वाद-विवाद जरा भी पसन्द नहीं आता, जिसमें वक्तागण गरम और उत्तेजित न हो जायँ। ऐसे अवसरों पर वे बीच-बीच में योद्धाओं को उत्तेजित करने के उद्देश्य से कोई चुटीली उक्ति जोड़ दिया करती थीं। वाक्युद्ध जितना ही उग्र होता, उन्हें उतना ही आनन्द आता। वे वाल्ट ह्विटमैन, इमर्सन तथा थोरो की प्रशंसक थीं; और इनमें से अन्तिम दो के साहित्य में से बड़ी आन्तरिकता के साथ ऐसा कोई भी अंश उद्धृत किया करती थीं, जो प्राच्य दर्शन का अनुमोदन करता। बुद्ध तथा उनके उपदेशों के प्रति उनकी महान् श्रद्धा थी। इस प्रकार ईसाई धर्म की सामान्य प्रस्तुति से उनका सारा आकर्षण जा चुका था; और जब स्वामी विवेकानन्द लंदन में आये, तो जैसे एक वीणा एक संगीतज्ञ के स्पर्श से ध्वनित हो उठती है, वैसे ही मार्गरेट उनके आह्वान से स्पन्दित हो उठी थीं। उन्होंने अपने सीसेम क्लब में, मिस मूलर के घर, विम्बलडन में और लंदन तथा उसके आसपास के अनेक धर्म-दर्शन से जुड़े केन्द्रों में स्वामीजी के व्याख्यान सुने। मार्गरेट सभी स्थानों में गयीं और इस युग के पैगम्बर के रूप में उनका अभिवादन किया। उन्होंने विभिन्न स्थानों पर स्वामीजी के व्याख्यानों के आयोजन में सहायता की, जिनमें एक था ब्लूम्सबेरी स्क्वेयर में सर रिचार्ड स्टेपली द्वारा स्थापित क्रिस्टो-थियॉसाफिकल सोसायटी, जहाँ बाद में स्वामी अभेदानन्द का पहला अंग्रेजी व्याख्यान हुआ था।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्री ई. टी. स्टर्डी की लक्ष्य-निष्ठा एवं आर्थिक सहायता और मार्गरेट के प्रभाव तथा उनकी संक्रामक श्रद्धा ने मिलकर स्वामीजी के लंदन के कार्य में महत्त्वपूर्ण योगदान किया था। वे क्रमश: वेदान्त के भावों में डूब गयीं और उन्होंने अपनी सारी वाग्मिता को उससे सम्बन्धित कार्य में नियोजित कर दिया। एक बार स्वामीजी के जाल में पड़ जाने के बाद, वे निरन्तर उन्हीं के विषय में चर्चा करती रहतीं। वे हर किसी से पूछतीं, "क्या तुमने स्वामीजी को देखा और सुना है? यदि नहीं, तो तुम्हें अवश्य ही उन्हें देखना और सुनना चाहिये। उनके जैसा, उनकी बराबरी का दूसरा कोई भी नहीं है, कोई भी नहीं!" वे वाग्विदग्धता, अध्यवसाय तथा स्वाभिमान से परिपूर्ण थीं। वे अपने मित्रों, परिचितों और यहाँ तक कि अपरिचितों तक को, यह विश्वास दिलाकर कि वे सत्य के सूर्य हैं, इन भारतमाता के सुपुत्र की ओर खींच लातीं। उन्होंने अपने पूरे हृदय की निष्ठा के साथ स्वामीजी के सन्देश को स्वीकार किया था।

वैसे यह भी सत्य है कि जब मार्गरेट के लिये भारत जाकर, वहीं के लिये अपना सम्पूर्ण जीवन तथा क्षमताओं

को समर्पित करने के लिये निर्णय लेने का समय आया, तब उनके मन में एक अत्यन्त स्वाभाविक हिचकिचाहट का भाव आया था। वर्तमान लेखक के साथ वे बहुधा इस प्रस्ताव के पक्ष तथा विपक्ष की युक्तियों पर चर्चा किया करती थीं। यदि वे वह उद्देश्य लेकर भारत गयीं, तो उन्हें अपनी वृद्ध हो रही माता की देखभाल का भार दूसरों के भरोसे छोड़कर जाना होगा; उन्हें अपनी उन सारी अभिरुचियों को भी त्याग देना होगा, जिनके लिये लंदन उन पर आशा लगाये हुए था और जिनके लिये वे विशेष रूप से उपयुक्त थीं। सर्वोपरि, उन्हें अपने अधिकांश ईसाई मित्रों तथा सम्बन्धियों द्वारा अपने उद्देश्य की भ्रान्त एवं कटु व्याख्या और शंका तथा असहमति को भी सहन करना पड़ता।

दूसरी ओर उन्हें लगता कि बिगुल की ध्वनि के साथ 'बुलावा उनके पास आ चुका है।' वह घण्टों और दिन-पर-दिन उनके कानों में प्रतिध्वनित होती रहती। आखिरकार, उन्होंने कठोर आध्यात्मिक संघर्ष के बाद इस अपरिहार्य त्याग को अंगीकार किया और मुहावरे की भाषा में कहें, तो 'अपनी नावों को जला दिया', इसलिये जला दिया कि उन्हें विश्वास था कि चाहे जो भी हो, वे अपने पुराने घर में, पुरानी जीवनधारा में, पुराने घनिष्ठ मित्रों में कदापि नहीं लौट सकतीं। जिस कार्य के लिये वे अपना जीवन देने जा रही हैं, भले ही उससे संक्षिप्त अवकाश लेकर सामयिक रूप से वैसा करना सम्भव हो सके।

स्वामीजी का हृदय भी अपनी इन निष्ठावान अनुगामिनी के प्रति आकुल था, परन्तु वे भी इस विषय में अपनी जिम्मेदारी से भलीभाँति अवगत थे। उन्होंने अपनी पूरी ईमानदारी के साथ, सभी सम्भव तर्कों का उपयोग करके उन्हें अपना शिष्यत्व ग्रहण करने, अपनी कार्यधारा में जीवन देने और इसके फलस्वरूप कठिनाइयाँ झेलने से विरत करने का प्रयास किया। उन्होंने जोर देते हुए बताया कि किस प्रकार अनेक लोग उनके तथा उनके संगी संन्यासियों के साथ उनके संसर्ग के उल्टे-सीधे अर्थ लगाएँगे और अपने कटु शब्दों तथा कार्यों के द्वारा उन्हें व्यक्त भी करेंगे।

अब हम एक महत्त्वपूर्ण तथ्य के सम्मुखीन होते हैं। मार्गरेट नोबल नारियों में एक नारी थीं। उनका स्वभाव, उनकी सहानुभूति, उनका व्यक्तित्व – सब कुछ महिलाओं को ही आकृष्ट करता था – सभी आयुवर्ग की, चाहे वे बच्चियाँ हों या वयस्क अथवा प्रौढ़ – सभी उनकी प्रशंसक थीं और उनका चिन्तन करती थीं। जबकि दूसरी ओर, पुरुष शायद ही कभी उनके प्रति ऐसे आकर्षण का अनुभव करते। आत्मा की कोई सूक्ष्म प्रतिभा ही पुरुषों को उनसे दूर रखती थी।

ऐसा लगता था मानो वे वस्तुत: अपने इस गुण का आनन्द लेती थीं और अपनी तीक्ष्ण समालोचना के द्वारा उन पर प्रहार करके, आघात पहुँचाकर, उन्हें यह धारणा करा देती थीं कि उनकी मानसिक चेतना में किसी भी पुरुष की अपेक्षा नारी को एक उच्चतर स्थान प्राप्त था। इस प्रकार आनन्दपूर्वक और स्पष्ट रूप से समझा जा सकता था कि स्वामीजी के प्रति उनकी निष्ठा किसी भी दृष्टि से उनके पौरुष के द्वारा अनुप्रेरित नहीं थी। बल्कि यह आकर्षण उनके भीतर निहित भाव का था, भारत के प्राचीन तथा चिरन्तन भाव का; और उस भाव का जो शताब्दियों के परिवर्तनशील राजवंशों तथा साम्राज्यों के बीच भी जीवित रहा है; वह भाव जो अपने अमोघ विश्वास को पकड़े रहा – 'जो एक है, यद्यपि लोग उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं'; यह वह तत्त्व था जिसने मार्गरेट नोबल पर अधिकार जताया और उन्होंने भी जिसे दृढ़तापूर्वक जकड़ लिया।

सुप्रसिद्ध वायलिन-वादक की विधवा श्रीमती ओली बुल तथा मिस मैक्लाउड की सहायता; और सर जे.सी. बोस की मित्रता[१] के साथ उन्होंने हिन्दुस्तान की ओर प्रस्थान किया। साहस के आकर्षण ने उन्हें आने का संकेत दिया था और अदम्य साहस ने उन्हें जीवन्त बनाये रखा। उनके भारतीय कार्य के विषय में बहुत-कुछ लिखा गया है और भविष्य में भी काफी-कुछ लिखा जाएगा। कुछ काल पर्यवेक्षण के बाद उन्हें दीक्षा मिली। विश्व के प्रति भारत के आध्यात्मिक सन्देश में जिनके विश्वास ने सर्वोच्च आकर्षण उत्पन्न किया था, उन ऐतिहासिक लोगों के बीच – भगिनी निवेदिता के रूप में मार्गरेट नोबल ने – एक उल्लेखनीय व्यक्ति के रूप में अपना स्थान अर्जित किया।

उनकी भारत-यात्रा के समय के उनके चित्र में हम उन्हें एक युवा, परन्तु भूरे-नीले रंग की आँखोंवाली, सुनहरे-भूरे केशोंवाली, स्पष्ट नाक-नक्स से युक्त चेहरे तथा उज्ज्वल वर्णोंवाली एक ऐसी विशिष्ट नारी को देखते हैं, जिनकी मुस्कान अनुग्रह तथा आकर्षण से परिपूर्ण थी। जो मध्यम ऊँचाई की थीं, जिनकी हर पेशी तथा गतिविधि में सजगता थी; जो उत्सुक, उद्यमी तथा अदम्य थीं। जिनके पूर्वज आयरिश थे और वे इस पर गर्व का अनुभव करती थीं। वे उदार, भावुक, उत्साही थीं और उनमें आकर्षण तथा प्रत्युत्पन्न वाक्शक्ति तथा केल्टिक लोगों के आकर्षण का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन था। यह सब कुछ वे एमराल्ड द्वीप से इंग्लैंड होते हुए भारत ले गयीं, जो उनकी नव-गृहीत मातृभूमि थी। ○○○

१. बोस-दम्पती के साथ उनकी मित्रता भारत में आने के बाद हुई।

रामकृष्ण संघ के संन्यासियों का दिव्य जीवन (२२)

स्वामी भास्करानन्द

अनुवाद : ब्र. चिदात्मचैतन्य

बेलूड़ मठ के श्वान

श्रीरामकृष्ण के शिष्यों में से स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०२) और स्वामी शिवानन्द जी महाराज (१८५४-१९३४) पालतू प्राणियों को विशेष रूप से पसन्द करते थे। स्वामी विवेकानन्द ने कुछ बतख, कुत्ता, बकरियाँ, सारस तथा हिरण पाल रखे थे। उन्होंने बकरी का नाम हंसी और मटरू रखा था। स्वामी शिवानन्द जी महाराज के केलो और भेलो नाम के दो पालतू कुत्ते थे। स्वामी विवेकानन्द के समय बेलूड़ मठ में बाघा नामक एक कुत्ता था और लिली और मेरी नामक दो कुतिया थीं। लेकिन इन तीनों में बाघा को ही 'स्वामीजी का कुत्ता' कहते थे।

बाघा जंगली कुत्ता था। जब वह छोटा था, तब बेलूड़ मठ का रसोईया हारू ठाकुर ने उसे रास्ते से उठाकर बेलूड़ मठ में लाया था। साधुओं का धीरे-धीरे इस पिल्ले पर स्नेह बढ़ने लगा। स्वामी विवेकानन्द भी बाघा को बहुत प्रेम करते थे, इसलिये साधु लोग उसे 'स्वामी विवेकानन्द का कुत्ता' कहने लगे।

एक दिन बाघा ने मन्दिर के सामने मल-त्याग कर दिया। इससे संन्यासीवृन्द बहुत रुष्ट हो गये। बाघा को कहीं दूसरे स्थान में छोड़ने का निर्णय लिया गया। तदनुसार बाघा को नाव में बिठाकर गंगा के उस पार छोड़ दिया गया। लेकिन बाघा उछलकर वापस नाव में बैठ गया और तब तक वह नाव से नहीं उतरा जब तक नाविक ने उसे बेलूड़ मठ में वापस लाकर नहीं छोड़ा। दिनभर बाघा बेलूड़ मठ के भवन में छिपा रहा।

स्वामी विवेकानन्द का कमरा मठ-भवन के दुमंजिले पर था। वे जिस शौचालय का उपयोग करते थे, वह भी दुमंजिले पर ही था, लेकिन वह कमरे से जुड़ा हुआ नहीं था। दुमंजिले पर जाने के लिए दो सीढ़ियाँ थीं। उनमें से बाहर की सीढ़ी से ऊपर जाकर मेहतर शौचालय की सफाई करता था।

इस घटना के दूसरे दिन सबेरे स्वामीजी अपने शौचालय में गये। तब तक बाहर अँधेरा ही था। बाघा बाहर की सीढ़ियों से दूसरी मंजिल पर गया और शौचालय के द्वार के निकट बैठा हुआ था। अँधेरा होने के कारण स्वामीजी बाघा को नहीं देख सके। वे बाघा पर पैर रखने ही वाले थे, तभी वह रिरियाने लगा। बाघा अपने सिर को स्वामीजी के चरणों पर रगड़ने लगा, मानो वह स्वामीजी से संन्यासियों द्वारा किये गये व्यवहार के बारे में शिकायत कर रहा हो। आश्चर्य की बात है कि बाघा इसके पूर्व कभी भी दूसरी मंजिल पर नहीं गया था और न ही इसके बाद कभी गया। केवल पहली बार और इसी बार ही उसने ऐसा किया था।

बाद में सुबह स्वामीजी ने दूसरे साधुओं से कहा, "बाघा सोचता है कि मैं यहाँ का मालिक हूँ। इसलिए वह प्रात:काल ही मेरे पास शिकायत करने के लिए आया था। मन्दिर के सामने उसने जो किया उसके लिए तुमलोग उसे दण्ड मत देना।"

मैंने पहले बताया था कि बेलूड़ मठ में लिली और मेरी नाम की दो कुतिया थीं । बाघा का स्वभाव बिलकुल उनसे अलग था। कुत्तों को साधारणत: कहीं भी मुँह लगाने की आदत होती है। जब कुत्तों को भोजन दिया जाता है, तब कुत्तों का सरदार पहले खाता है। यद्यपि उनमें बाघा सरदार था, लेकिन वह कभी भी पहले जाकर भोजन नहीं करता था। वह हमेशा लिली और मेरी को पहले भोजन करने देता था। उसके इस व्यवहार ने बेलूड़ मठ के संन्यासियों को आश्चर्यचकित कर दिया, क्योंकि यह आचरण सामान्य कुत्तों से भिन्न था।

बेलूड़ मठ में रहने वाले अन्य संन्यासियों के लिए साधु निवास से कुछ दूर दूसरे भवन में शौचालय था। वह झाड़ियों और वृक्षों से घिरा हुआ था। उन दिनों वहाँ अनेक विषधर साँप रहते थे तथा मठ में बिजली की सुविधा नहीं थी। इसलिये साधु लोग लालटेन का उपयोग करते थे। अँधेरी रात में शौचालय जाना खतरनाक था। लेकिन बाघा रात में साधुओं के साथ जाता। बाघा साधुओं की सुरक्षा के लिए आगे-आगे जाता था। बाघा जब साँप को देखता, तो भौंक कर साधुओं को सावधान कर देता ।

स्वामी विवेकानन्द की महासमाधि के बाद उनके पार्थिव शरीर का अन्तिम दाह-संस्कार बेलूड़ मठ प्रांगण में किया गया। सम्पूर्ण दाह-संस्कार के समय बाघा समीप बैठा रहा और कहीं भी नहीं गया। दुखित होकर वह दाह-संस्कार समाप्त होने के बाद भी वहाँ पर बहुत देर बैठा रहा। उसने उस दिन न कुछ खाया, न पानी पिया।

स्वामी विवेकानन्द की महासमाधि के पश्चात् दो यूरोपियन महिला-भक्त, मदर सेवियर और क्रिस्टिन बेलूड़ मठ का दर्शन करने आयीं। उन दिनों बेलूड़ मठ में महिला-भक्तों के लिये अतिथि-निवास नहीं था। अत: वे मठ के लॉन पर टेन्ट

लगाकर कुछ दिनों तक रहीं। बाघा स्वयं ही रात में उनलोगों की रक्षा करता। वह वहाँ किसी भी जानवर को, यहाँ तक कि मेढ़क को भी नहीं आने देता था।

यथासमय बाघा की मृत्यु हो गई और उसके शव को गंगा में विसर्जित कर दिया गया। गंगा में आए ज्वारभाटा से बाघा का शरीर बेलूड़ मठ से दूर चला गया। लेकिन पुन: ज्वारभाटा से उसका शरीर वापस बेलूड़ मठ के तट पर आकर रुक गया। साधुओं ने बाघा के शरीर को लाकर बेलूड़ मठ में चन्दन वृक्ष के नीचे धरती में गाढ़ दिया। (महेन्द्रनाथ दत्त कृत बँगला में 'पशुजातीर मानववृत्ति' से बाघा की यह घटना ली गयी है।)

जब स्वामी शिवानन्द जी महाराज रामकृष्ण संघ के संघाध्यक्ष थे, तब एक भक्त ने उनको दो पालतू कुत्ते दिये थे। ये दोनों सारैल नसल के कुत्ते थे। सारैल बँगाल में विशेष नसल के कुत्तों के लिए प्रसिद्ध है। सारैल कुत्ता ग्रेहाउंड कुत्ता के समान दिखता है; लेकिन वह देशी मूल का है। यहाँ उल्लेखनीय है कि सनातन धार्मिक परम्परा में कुत्तों का मठ-मन्दिरों में प्रवेश वर्जित है, क्योंकि ये अपवित्र माने जाते हैं। कुत्ते बरामदे में रह सकते हैं, लेकिन उन्हें मठ के कमरे में जाना निषेध है। केलो और भेलो को भी मठ-भवन में जाने की अनुमति नहीं थी, लेकिन महापुरुष महाराज उनके नियमित भोजन का ध्यान रखते थे।

स्वामी शिवानन्द

स्वामी शिवानन्द जी महाराज अपने कमरे के बाहर बरामदे में खड़े होकर नीचे मठ-प्रांगण में अपने कुत्तों के लिए रोटी का टुकड़ा फेंका करते। कुत्ते उछलकर रोटी को हवा में ही पकड़ लेते। यह देखकर शिवानन्दजी महाराज बहुत आनन्दित होते। वे कभी-कभी कुत्तों को दिखलाकर कहते, ''ये मेरे कुत्ते हैं और मैं श्रीरामकृष्ण का कुत्ता हूँ !''

केलो और भेलो की देखरेख करने का दायित्व ब्रह्मचारी ताराप्रसन्न को दिया गया था। वह गंगाजी में कुत्तो को तैराने के लिए ले जाता था। बेलूड़ मठ के पास गंगा नदी लगभग एक किलोमीटर चौड़ी है। ब्रह्मचारी तथा कुत्ते प्रतिदिन गंगा में कुछ देर तैरते थे। प्रतिदिन सन्ध्या को ब्रह्मचारी ताराप्रसन्न और मठ के अन्य साधु स्वामी शिवानन्द जी महाराज को प्रणाम करने के लिए जाते थे। महाराज प्रतिदिन ताराप्रसन्न से पूछते, ''आज कुत्ते तैरते हुए कितनी दूर तक गये?'' ताराप्रसन्न उत्साह से कुत्तों के तैरने की निपुणता का वर्णन करते। यह सुनकर शिवानन्दजी महाराज बहुत प्रसन्न होते। संन्यास दीक्षा लेने के बाद ताराप्रसन्न का नाम स्वामी स्वयंप्रभानन्द हुआ। मैंने ब्रह्मचारी के रूप में उनके साथ शिलाँग आश्रम में लगभग दो वर्ष बिताये थे। तब स्वामी स्वयंप्रभानन्द जी महाराज शिलाँग आश्रम के अध्यक्ष थे। हमलोगों को उन्होंने ही यह घटना बताई थी।

रामकृष्ण संघ में एक ब्रह्मचारी को संन्यासी बनने में नौ वर्ष लगते हैं। स्वामी स्वयंप्रभानन्द जी महाराज ने हमें बताया कि उन्हें संन्यासी बनने के लिए नौ वर्ष प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। ब्रह्मचारी ताराप्रसन्न ने केलो और भेलो की हृदयपूर्वक सेवा की, उससे स्वामी शिवानन्द जी महाराज बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें एक या दो वर्ष पहले ही संन्यास की स्वीकृति दे दी।

मैं लगभग तेरह वर्ष बेलूड़ मठ में रहा। तब वहाँ पालतू कुत्ते नहीं थे, लेकिन लगभग पन्द्रह जंगली कुत्ते बेलूड़ मठ के विस्तृत परिसर में थे। मैंने देखा, उनका भी अपना एक दल है। उनका सरदार एक विशेष शक्तिशाली कुत्ता था।

उन दिनों बेलूड़ मठ में सेवक और अतिथियों को मिलाकर प्रतिदिन लगभग दो सौ व्यक्ति भोजन करते थे। रसोईघर में कोई रेफ्रिजरेटर नहीं था, इसलिये बचा हुआ खाना कुत्तों को देते थे। इसलिये कुत्ते हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ थे। भोजन के समय कुत्ते अपने सरदार को पहले खाने देते थे। कुत्तों के खाने का अपना एक विशेष ढंग रहता है। जब कोई इसका उल्लंघन करता था, तो अन्य कुत्ते उस पर गुर्राते हैं और कभी-कभी सरदार उसे मार कर नियंत्रण रखता था।

जब कभी कोई अज्ञात कुत्ते बेलूड़ मठ के प्रांगण में आ जाते, तो कुत्ते अपने सरदार के नेतृत्व में उन पर एक साथ आक्रमण कर देते। इससे घुसपैठिया कुत्ता तुरन्त भाग जाता। लेकिन कोई कुता अपनी पूँछ हिलाकर आत्मसमर्पण कर देता, तो मठ के कुत्ते भौंकना बन्द कर उससे नहीं लड़ते। वह कुत्ता दूर खड़ा रहता। खाने के समय सभी कुत्तों के खाने के बाद उसे भी खाने का अवसर मिलता। समयानुसार वह कुत्ता सरदार-कुत्तें की मुँह और पूँछ चाटकर उसकी सेवा करता। बाद में वह भी इस दल का सदस्य हो जाता और बाहरी कुत्तों पर उत्साह से आक्रमण करता था।

जब सरदार-कुत्ता वृद्ध हो गया, तब उसके दो छोटे भाइयों ने लड़ाई कर उसे झुण्ड से बाहर कर दिया और स्वयं सरदार बन गये। पदच्युत सरदार-कुत्ता मठ से कुछ दूर धर्मार्थ दवाखाना के प्रांगण में रहने लगा। एक महाराजजी उसके मृत्यु पर्यन्त उसे भोजन देते थे।

शेष भाग पृष्ठ ५१२ पर

भगिनी निवेदिता का शिक्षा चिन्तन

स्वामी शशांकानन्द

उत्तर आयरलैंड शहर की एक युवती के हृदय में एक लालसा जागृत हुई और उसने ईश्वर से यह प्रार्थना की थी कि पहली बार माँ बनने पर यदि नवजात शिशु सुरक्षित रूप से जन्म ले तो वह उसे ईश्वर की सेवा में समर्पित कर देगी। उन देवी की प्रार्थना तो तब पूरी हुई, जब उनकी पहली संतान मार्गरेट नोबल ने अपने विश्वविख्यात् महान गुरु के श्रीचरणों में अपने को समर्पित कर त्यागमय जीवन का आलिंगन किया और अपना नाम 'श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द की निवेदिता', इस प्रकार रख कर अपना जीवन सार्थक किया।

मार्गरेट एलिज़ाबेथ नोबल का जन्म २८ अक्टूबर, १८६७ ई. में हुआ। धर्मज्ञ माता-पिता की प्यारी बेटी को हैलीफैक्स कॉलेज का धार्मिक वातावरण अच्छा लगा और बड़ी एकाग्रता और रुचि के साथ वह अध्ययन में लग गयीं। संगीत, कला और प्राकृतिक विज्ञान में उनकी अत्यधिक रुचि देखी गयी। यहीं वेल्शमेन नामक एक युवा इंजीनियर से उसकी भेंट हुई और शीघ्र ही वे दोनों एक-दूसरे से प्रेमसूत्र में बन्ध गए। विवाह की घोषणा होने से पहले ही वेल्शमेन परलोक सिधार गया। विवाह के लिए ईश्वर की अपनी योजना और उनकी माताश्री के प्रण ने अपना स्थान बना लिया। मार्गरेट के सांसारिक इच्छाओं के बंधन कट गए और वे पूरी लगन से 'शिक्षा' विषयक अध्ययन करने लगीं।

शिक्षा पर क्रान्तिकारी विचार

स्विस शिक्षा सुधारक पेस्टालॉजी एवं जर्मनी शिक्षाविद् फ्रोबेल के विचारों से वे अत्यधिक प्रभावित हुईं। ये विचार बड़े ही क्रान्तिकारी थे। उनका कहना था कि विद्यालय जाने से पहले की आयु बहुत ही महत्त्वपूर्ण होती है और पढ़ाई से पहले बच्चे का मन उसके योग्य बनाना बहुत आवश्यक होता है। बच्चे खेल-कूद, आमोद-प्रमोद और नकल करना पसन्द करते हैं। अत: पहले उनमें उनके स्वाभाविक गुणों का विकास किया जाए। व्यायाम, खेलकूद, नकल करना (आवृत्ति), सूक्ष्म दृष्टि और सृजनात्मक विचारों के माध्यम से विकास आवश्यक है। नूतन शिक्षा प्रणाली को मार्गरेट ने व्यवहार में लाना शुरू किया और शीघ्र ही वे 'सन्डे क्लब' एवं 'लीवरपुल साइंस क्लब' के सम्पर्क में आयीं, जहाँ उनके व्याख्यान और लेख अत्यन्त प्रंशसित हुए।

खेल के साथ शिक्षा

सन् १८९१ ई. में श्रीमती डी. ल्यू ने उन्हें लन्दन में एक नया स्कूल खोलने के लिए आमंत्रित किया और इसी कार्य हेतु वे विम्बलडन चली गयीं और वहाँ अपनी माता के साथ रहने लगीं। सन् १८९२ ई. में उन्होंने अपना निजी स्कूल खोला, जिसमें सीमित शिक्षा-प्रणाली का कोई स्थान नहीं था। विधिवत् शिक्षा से कहीं दूर बच्चों को कुछ हाथ का काम देकर उन्हें क्रियाशील बनाया जाता था। बच्चों के लिए वह पढ़ाई नहीं खेल था। खेलकूद के माध्यम से उन्हें शिक्षा प्राप्त होती थी।

कार्यव्यस्तता, दायित्वबोध, सक्रियता, संकल्प करने की शक्ति, योजना बनाना और उन्हें कार्यान्वित करना तथा व्यवस्थापन बच्चों में शक्ति प्रदान करता है। खेल-कूद से भी बच्चों में अनुशासन, नियम-पालन, स्वास्थकर होड़, उदारता और सहयोगिता आदि गुण आते हैं। संगीत, कला, चित्रकारी इत्यादि से बच्चों का मन स्वरों की तरह सौन्दर्यपूर्ण हो उठता है, चित्रकारी उसकी भावनाओं को साकार रूप देती है।

वर्तमान शिक्षा के दुष्परिणाम

यदि विचार करें, तो देखेंगे कि आज की शिक्षा प्रणाली

बच्चों की अन्तर्निहित सर्वांगीण विकास करने वाली प्रकृत शिक्षा से कितनी दूर जा चुकी है। भले ही आज शहरों में खोले जाने वाली निजी संस्थाओं के विद्यालयों में खेल-कूद, नाटक, संगीत, चित्रकारी, घुड़सवारी, तैरना इत्यादि है, पर भारत के कितने लोग अपने बच्चों को उन विद्यालयों में पढ़ाने की सामर्थ्य रखते हैं। भारत गाँवों और झोपड़ियों में रहता है, जहाँ शिक्षा एक मजाक बन गया है, उपेक्षित साधारण जनता तो जीवन-संघर्ष से जूझ रही है। आज की शिक्षा प्रणाली चाहे वह शहरों के निजी विद्यालयों में हो या सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में, शिक्षा का अर्थ या उद्देश्य तो अब येन-केन-प्रकारेण परीक्षा में अच्छे नम्बर लाकर डिग्री प्राप्त करना और किसी प्रकार एक नौकरी पाना है। इस महत्त्वाकांक्षा ने बच्चों की बुद्धि को कुंठित कर विवेकहीन, तनावपूर्ण और विचलित बना दिया है। स्वामी विवेकानन्द की भाषा में तो यह नकारात्मक शिक्षा है। इस शिक्षा का परिणाम यह है कि विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में छात्र-छात्राओं को अपनी पीठ पर गधे की तरह बोझ ढोना पड़ता है और ट्यूशनों एवं कोचिंग के लिये यथेष्ट समय देना पड़ता है, अच्छे नम्बर नहीं आने से माता-पिता की डाँट-फटकार सहनी पड़ती है, मित्रों के सामने हीन भावना का शिकार होना पड़ता है। फिर इतना सब होने के बाद डिग्री मिलने पर अधिकांश युवकों को बेरोजगारी और हताशा के चंगुल में फँसकर सारा जीवन धक्के खाना पड़ता है।

आत्मनिर्भर बनानेवाली शिक्षा

मार्गरेट नोबल ने जो शिक्षा प्रणाली का चिन्तन किया था, वह इससे विपरीत कौशलपूर्ण, गुणी, एकाग्र मन, तीक्ष्ण एवं कुशाग्र बुद्धिवाली आत्मनिर्भर मनुष्य बनाने वाली थी। इसीलिए मार्गरेट की प्रसिद्धि बढ़ती गयी, उनका शिक्षा के क्षेत्र में अनुभव बढ़ा और उन्हें परिपक्वता प्राप्त हुई। उनका अन्य विख्यात् शिक्षाविदों से परिचय हुआ और उन सबने मिलकर लन्दन में सीसेम क्लब की स्थापना की।

सन् १८९५ ई. में इन्हीं निपुण, उत्साही शिक्षाविद् महिला मार्गरेट नोबल को विश्ववन्दनीय स्वामी विवेकानन्द जी का प्रथम दर्शन करने का सौभाग्य मिला। कुछ ही महीनों में मार्गरेट के जीवन में एक नयी ज्योति फैल गयी और उज्ज्वल दिव्य विचारों का संचार होने लगा, उनके जीवन में आशातीत परिवर्तन होने लगा, जिससे उनके जीवन की दिशा एवं लक्ष्य ही बदल गया।

मार्गरेट के अन्त:करण में उत्पन्न आध्यात्मिक पिपासा दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही थी। ईसाई मत, बुद्ध मत या भौतिक विज्ञान कुछ भी उनकी पिपासा को शान्त न कर सका था। स्वामी विवेकानन्द में वे अपने जीवन के लक्ष्य-पथ को खोज पाई थीं। स्वामीजी से मिलने के बाद उनकी पिपासा सदा सर्वदा के लिये शान्त हो गयी थी। स्वामीजी की वेदान्त वाणी ने पारसमणि का काम किया और मार्गरेट ने स्वामीजी में अपने सद्गुरु को पाया।

स्वामी विवेकानन्द जी ने अपने देश में नारी-जागरण और नारी-उत्थान की योजना में मार्गरेट नोबल की सहयोगिता को महत्त्वपूर्ण समझा था। स्वामीजी के इस संकल्प ने मार्गरेट के जीवन में अन्धकार दूर कर दिव्य ज्योति की किरण विस्तृत कर दी।

गुरु-शिष्या की निकटता बढ़ती रही। स्वामीजी के भारत लौटने के बाद २८ जनवरी, १८९८ ई. को मार्गरेट नोबल ने अपने को स्वामीजी के चरणों में समर्पित किया। स्वामीजी ने उन्हें 'निवेदिता' नाम दिया और आज वे भगिनी निवेदिता के नाम से सारे विश्व में जानी जाती हैं।

बालिका विद्यालय की स्थापना

भगिनी निवेदिता ने कलकता में बालिकाओं के लिए बालिका विद्यालय की स्थापना की तथा भारतीय नारी-जागरण और नारी-उत्थान के कार्यों में अपने को समर्पित कर दिया। अपने गुरुदेव की भाँति निवेदिता भी परा और अपरा दोनों प्रकार की शिक्षा के पक्ष में थीं। वे कहती थीं, जन-साधारण में शिक्षा का विस्तार करने के लिए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए –

१. सबसे पहले लोगों को लिखना, पढ़ना और गणित सिखाना चाहिए।

२. शिक्षकों की एक सेना तैयार करनी चाहिए। विश्वविद्यालयों के बच्चों की शिक्षा समाप्त होने पर कम-से-कम उन्हें तीन वर्षों तक जन-साधारण को पढ़ाने का कार्य करना चाहिए।

३. शिक्षा केवल अपरा-विद्या तक ही सीमित न रहे, बल्कि उसे आध्यात्मिक विकास का भी साधन बनना चाहिए। अत: आध्यात्मिक शिक्षा का होना आवश्यक है।

OOO

महाकाली-नन्दिनी निवेदिता

स्वामी सुनिश्चितानन्द

मार्गरेट एलिजाबेथ नोबेल पाश्चात्य नारी होने पर भी भारत के प्रति समर्पित थीं। वे स्वामी विवेकानन्द की शिष्या थीं। सैकड़ों वर्षों तक विदेशियों ने भारत की धरा पर आक्रमण किया, भारत की सम्पत्ति और प्राकृतिक सम्पदा को लूटा, यहाँ के मठ-मन्दिर और देवालयों को विध्वंस किया, सनातन धर्म और संस्कृति पर प्रबल प्रहार किया, सनातन धर्म के लोगों को अपने धर्म में परिवर्तित किया, किन्तु भारतीय धर्म को किसी ने ग्रहण किया हो, ऐसे विरले ही हैं, इतिहास इसका साक्षी है। इस परिप्रेक्ष्य में मार्गरेट इसका एक मात्र अपवाद हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे एकमात्र ऐसी महिला हैं, जिन्होंने केवल सनातन धर्म और संस्कृति से आकर्षित होकर मृत्युपर्यन्त भारत में निवास किया। इसीलिए वे श्रीमाँ सारदा देवी की प्रिय 'खूकी' (बेटी), रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'लोकमाता' और स्वामी विवेकानन्द की 'निवेदिता' थीं।

सनातन धर्म के प्रति उनका अदम्य आकर्षण, इस देश के देव-देवियों के प्रति उनकी श्रद्धा, विशेषकर माँ काली के प्रति उनके अगाध विश्वास और भक्ति से कैसे उनका हृदय पूर्ण हो गया, कैसे वे एक ईसाई महिला से हिन्दू महिला में रूपान्तरित हो गईं, वह हमें उनकी स्मृतियों के विश्लेषण करने पर मिलता है – ''मैंने अंग्रेज महिला के रूप में जन्म लिया और बड़ी हुई और अठारह वर्ष की आयु तक अँग्रेजी-बालिका के समान शिक्षा प्राप्त की । कम आयु में ईसाई धर्म सिखाया गया था ..., किन्तु अठारह वर्ष की आयु के बाद मुझे ईसाई धर्म के तत्त्वों की सत्यता पर संशय होने लगा। मुझे लगा कि उन तत्त्वों की अनेक बातें समीचीन नहीं हैं, मेरा संशय प्रबल हुआ और उस धर्म पर से मेरा विश्वास धीरे-धीरे कम होने लगा। सात वर्ष तक उस अवस्था में मैं अशान्त रही। क्योंकि मेरी सत्य को जानने की प्रबल इच्छा थी। मैंने गिरिजाघर जाना बन्द कर दिया ...। इस समय गौतम बुद्ध ने मुझे बहुत प्रभावित किया। मैं तीन वर्ष तक बौद्ध धर्म की चर्चा में निमग्न रही। एक सम्बन्धित भाई ने अपने साथ चाय पीने और भारत के एक संन्यासी को देखने के लिए मुझे निमन्त्रण दिया। वहाँ मैंने जिसे देखा, वे थे स्वामी विवेकानन्द, जो बाद में मेरे गुरु हुए। मेरा संशयी मन जिस शक्ति का अनुसंधान कर रहा था, वह उन्होंने प्रदान किया। अन्त में मैंने उस धर्म को प्राप्त किया जिस पर निर्भर होकर आत्मोन्नति के द्वारा आनन्द में लीन होकर मुक्ति पा सकती हूँ। मैंने क्यों और कैसे आपका धर्म स्वीकार किया, उसे आपको बताया। ... मैं भारत को महान और श्रेष्ठ धर्म की जन्मभूमि के रूप में श्रद्धा करती हूँ।''

इसके बाद हमलोग देखते हैं कि भारत में आकर वे अपने गुरु स्वामी विवेकानन्द के कथनानुसार रामायण, महाभारत का गहन अध्ययन करती हैं और भारत के कार्य में संलग्न होने के लिए वे तत्पर हुईं। वे आध्यात्मिक साधना में अपने को समर्पित करती हैं।

ये पाश्चात्य नारी माँ काली के शरणागत होकर अपने स्वरूप की प्राप्ति करती हैं, माँ काली के दर्शन में ही इन्हें भारत के वास्तविक स्वरूप का दर्शन हुआ।

गुरु-परम्परा की विद्या ने ही परवर्तीकाल में निवेदिता को प्रभावित किया था। एक वर्ष के भीतर ही कलकत्ता में कालीघाट के काली मन्दिर में १३.१२.१८९९ को और 'आलबर्ट हाल' में २८.८.१८९९ को दोनों व्याख्यानों के द्वारा उन्होंने मूर्तिपूजा की आलोचना न कर, काली मूर्ति क्या है, उसे समझाने का प्रयास किया। माँ काली नग्न होकर पति के वक्ष स्थल पर नृत्य कर रही हैं। गले में नरमुण्ड की माला है। शत्रुओं के तप्त रक्त पीने से उनकी जिह्वा लपलपा रही है, मृत्यु के भयंकर दूत घेरे हुए हैं। माँ काली का रूप भयंकर है। उनके मेघवर्ण सदृश काले उन्मुक्त केश उनके पैरों तक लम्बे हैं, उनकी हँसी के सामने बिजली की कड़क भी कम है। वे भयंकरी हैं। काली अग्निरूपी ज्वलामुखी हैं, मृत्यु और विनाश से आवृत हैं, काली के सामने आने से जिह्वा स्तब्ध हो जाती है, वाणी मौन हो जाती है, केवल एक ही शब्द ध्वनित होता है, 'माँ'। प्राचीन ऋषियों ने इसी माया को काली मूर्ति के द्वारा प्रतीक के रूप में और वास्तविक रूप से अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। मातृ-उपासना की सबसे बड़ी महिमा है – मनुष्यत्व की अभिव्यक्ति। सम्पूर्ण सृष्टि एक विशेष गुण और काल पर आश्रित है। काल के साथ रमण करती हैं, इसलिए उन्हें काली कहते हैं। कालान्तर में वे स्वयं को और जगत को उत्पन्न करती हैं। केवल मनुष्य ही नहीं, संसार का कण-कण उन्हीं की सृष्टि है। उनकी आराधना की जन्मस्थली और उनके साधकों का धाम यह बंगाल है। यदि

यह बंगाल काली पूजा को त्याग दे, तो वह मानव-पूजा भी खो देगा। इस प्राचीन पूजा को दस गुनी अधिक भक्ति से वापस लाने का दायित्व उन्हीं का है। क्योंकि इसके अभाव से उन्हें संकट और अपमान मिलेगा। यही उनके व्याख्यान की मुख्य बात थी। उन्होंने माँ के तीन रूपों – श्रीदुर्गा, श्रीजगद्धात्री और काली के रूप की गवेषणा की थी।

वे ५ जुलाई, १८९९ को मैक्लाउड को लिखती हैं - "काली माँ के सम्बन्ध में मुझे नई अनुभूति हुई है। वह कलकत्ता के अंतिम दिन में हुई। जब मैं राजा के साथ काली मूर्ति के पास बैठी थी, जिसे छोड़ना ठीक नहीं । सोये हुए शिव के आवेशित दृष्टि का अनुसरण करते हुए देखा कि सचमुच वह काली देवी की आँखों से संयुक्त है। उसके बाद देखती हूँ, कैसे काली 'माँ' के सम्बन्ध में मेरी वह धारणा स्वामीजी के दर्शन के अनुरूप है । केवल शिव में ही इतना साहस है कि वे देवी को इस रूप में देख सकते हैं ।"

२०.१२.१८९९ के पत्र में निवेदिता का आत्मविश्वास प्रगट होता है, वे लिखती हैं – "अब मैं अपने और स्वामीजी की आशा-आकांक्षा के विषय में दृढ़ निश्चित हूँ ! यदि काली, शिव और गुरुभक्ति के सम्बन्ध में उनके मन के गहन विचारों को नहीं जान पाती, तो मुझे यह शक्ति नहीं मिलती।"

निवेदिता पर माँ काली का आवेश हो गया था, इसलिए वे कालीघाट में कालीमाता का भारतमाता के रूप में साक्षात् दर्शन कर भारत की सेवा में स्वयं को समर्पित कर सकी थीं। इसीलिए डॉ. जदुनाथ सरकार ने कहा है – "आप लोग आज अनुमान नहीं कर सकेंगे कि कलकत्ता के शिक्षित लोग निवेदिता का भाषण सुनकर कैसे आश्चर्यचकित हो गये थे। काली के सम्बन्ध में अन्य लोगों की स्थूल धारणा थी। उस समय कालीघाट में सैकड़ों अजा-बलि होती थी। मंदिर प्रांगण में कसाई खाने जैसे मांस बेचा जाता था।" विख्यात् डॉ. महेन्द्रलाल बाबू कहते हैं – किसी को भी कालीघाट जाना और दर्शन नहीं करना चाहिए। परवर्ती काल में अलबर्ट हॉल में निवेदिता ने माँ काली की महिमा गाई। ... श्रोताओं में किसी के विरोध करने पर निवेदिता ने स्थिति संभालते हुए कहा – क्या ये सब काली की लीला नहीं है? निवेदिता के लिए सब कुछ आनन्दायक था। बाद में यह घटना सुनकर स्वामीजी बहुत प्रसन्न हुए थे। इस बार काली सचमुच ही निवेदिता के कन्धे पर सवार हुई हैं, इसका हम लोग अनुमान कर सकते हैं। इसीलिए निवेदिता काली-नन्दिनी हो गई थीं।

मिशनरी और समजासुधारकों के द्वारा मूर्तिपूजा के विरोध का जिस प्रकार निवेदिता आक्रमण कर कालीपूजा में निष्ठावान हुई, वह अकथनीय है। मात्र एक वर्ष में ही काली-भाव ने उनके भक्तहृदय को उद्वेलित कर दिया था। वह इस व्याख्यान से प्रतीत होता है। श्रीरामकृष्ण देव ने जिस काली मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा की थी, निवेदिता ने सबके सामने उसे देश-विदेश के समाज-सुधारकों के ग्रहण करने योग्य बना दिया। यही निवेदिता का भारत के प्रति निवेदित जीवन है । जो शुद्ध ब्रह्मपरात्परा हैं, वे ही कालात्मरूपिणी माँ काली हैं और माँ काली ही भारत का एक रूप हैं। निवेदिता की दृष्टि में कालीमूर्ति और भारतभूमि एक और अभिन्न थीं। इन्हीं नारी ने प्राच्य-पाश्चात्य में कालीमूर्ति की पूजा का सेतु-बन्धन किया। लगता है श्रीरामकृष्ण के दो हाथ हैं – एक हाथ हैं स्वामी विवेकानन्द और दूसरा हाथ निश्चित ही ये पाश्चात्य महिला काली-नन्दिनी निवेदिता हैं। ○○○

सन्दर्भ सूची - १. निवेदिता लोकमाता, प्रथम खंड - शंकरी प्रसाद बसू। २. निवेदिता समग्र - कांचन बसु

पृष्ठ ५०८ का शेष भाग

ये दोनों नये सरदार-श्वान स्वामी विवेकानन्द एवं श्रीरामकृष्ण के अन्य संन्यासी शिष्यों के निवास बेलूड़ मठ के पुराने भवन की उत्तर दिशा में घास के मैदान में रहते थे। इस भवन के दुमँजिले पर 'स्वामीजी का शयन-कक्ष' है, जिसमें उनके द्वारा व्यवहृत वस्तुएँ हैं और वह आज भी मंदिर जैसे सुसज्जित है। शयन-कक्ष के दोनों ओर सीढ़ियाँ हैं। दर्शनार्थी ऊपर जाकर काँच की खिड़कियों से शयन-कक्ष का दर्शन कर सकते हैं। ये दोनों कुत्ते स्वेच्छा से रात में वहाँ पहरा देते थे।

एक बार बेलूड़ मठ में चोरी हुई। सबेरे चोर नाव से आकर स्वामीजी के शयन-कक्ष में रखे कुछ बक्से चुराकर ले गये। चोरों ने सोचा कि इनमें मूल्यवान वस्तुएँ होगीं। लेकिन गंगा के उस पार ले जाकर जब तोड़कर देखा, तो उनमें स्वामीजी की व्यवहृत वस्त्रों के अलावा कुछ भी नहीं था। निराश होकर वे उन वस्त्रों को वहीं बिखेर कर चले गये। चोरी करने के पूर्व चोरों ने इन दोनों कुत्तों को विषयुक्त खाना खिला दिया था। सुबह हमने देखा कि दोनों सरदार-कुत्ते घास के मैदान में मरे पड़े हैं। यद्यपि उनकी मृत्यु पर हमलोग दुखित थे, कुछ लोगों को उनकी मृत्यु गरिमामयी लगी। क्योंकि इन्होंने हमारे प्रिय स्वामी विवेकानन्दजी के शयन-कक्ष की रक्षा करने के प्रयास में अपना जीवन बलिदान कर दिया। **(क्रमशः)**

पवित्रता

स्वामी ब्रह्मेशानन्द

रामकृष्ण अद्वैत आश्रम, वाराणसी

(स्वामी ब्रह्मेशानन्द जी महाराज रामकृष्ण मिशन के वरिष्ठ संन्यासी हैं। ये रामकृष्ण मठ चेन्नई से प्रकाशित होनेवाली 'वेदान्त केसरी' मासिक पत्रिका के पूर्व सम्पादक थे। इनकी पातंजल योग विषयक प्रवचनमाला काफी लोकप्रिय हुई है। पातंजल योग से सम्बन्धित तप, स्वाध्याय, शरणागति आदि कई लेख इनकी पुस्तक 'आनन्द की खोज' में पहले से ही प्रकाशित हो चुके हैं। अब योग के शेष अन्य विषय जो अब तक अप्रकाशित हैं, महाराजजी ने विशेष रूप से विवेक ज्योति के पाठकों के लिये लिखे हैं, उन्हें प्रकाशित किया जा रहा है। - सं)

सभी धर्मों में पवित्रता को बहुत महत्त्व दिया गया है। वस्तुत: किसी-न-किसी प्रकार की पवित्रता के बिना आध्यात्मिक जीवन सम्भव ही नहीं है। सभी साधनाओं का सार सर्वस्व ही पवित्रता है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं –''पवित्रात्मा धन्य हैं, क्योंकि वे भगवान का दर्शन करेंगे' (बाईबिल, नया व्यवस्थान, शैलोपदेश), सभी पुस्तकों और पैगम्बरों के न रहने पर भी यही एक वाक्य मानव जाति का उद्धार करेगा।''

सफलता के लिये जिन तीन गुणों को स्वामीजी सबसे अधिक महत्त्व देते थे, उनमें पवित्रता एक है। ''सत्य पवित्रता और नि:स्वार्थता, जहाँ कहीं भी हों, उस व्यक्ति को नष्ट करने की शक्ति सूर्य के नीचे या ऊपर किसी में नहीं है। इनसे युक्त एक व्यक्ति सारे बह्माण्ड का सामना कर सकता है।

''पवित्रता धैर्य और अध्यवसाय ये तीन सफलता के लिए आवश्यक हैं और सर्वोपरि प्रेम।''

ये स्वामी विवेकानन्द के शब्द मात्र नहीं थे। उनमें ऐसी उच्च कोटि की पवित्रता थी कि वे संसार को झकझोर सकते थे। हम सभी जानते हैं कि शिकागो के विश्वधर्म-सम्मेलन में जब स्वामीजी ने 'सिस्टर्स एण्ड ब्रदर्स ऑफ अमेरिका' इन शब्दों का उच्चारण किया था, तो उस सभागार में बैठे सात हजार श्रोता अभिभूत हो गये थे। बाद में स्वामीजी के अमेरिकन शिष्यों ने जब इसका कारण पूछा था, तो स्वामीजी ने कहा था कि वह पवित्रता की शक्ति से हुआ था। क्योंकि उन्होंने अपने जीवन में कभी भी कोई अपवित्र विचार नहीं सोचा था।

प्रसंगत: इस सन्दर्भ में पाठकों को यह बताना उचित होगा कि पातंजल योगसूत्रों के अनुसार जो व्यक्ति मन, वचन और शरीर से पूर्ण ब्रह्मचर्य का कम-से-कम बारह वर्षों तक पालन कर उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है, उसे वीर्य अर्थात् दूसरों को प्रभावित करने की प्रचण्ड शक्ति प्राप्त होती है। ''**ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः**''।

ऐसे परम पवित्र सन्त भी पवित्रतास्वरूपिणी माँ सारदा के निकट जाने में संकोच करते थे। अमेरिका से लौटने पर माँ सारदा से एक बार मिलने के लिये जाते समय नौका में बैठे हुए स्वामी विवेकानन्द बार-बार गंगा-जल पान तथा गंगा-जल से प्रक्षालन करने लगे, जिससे वे माँ सारदा के दशर्नों के पूर्व पवित्र हों, उनके दर्शनों के अधिकारी हो सकें।

और पवित्रता स्वरूपिणी माँ सारदा? माँ तो स्वामीजी से भी अधिक पवित्र थीं और उन्हें इसका बोध भी था। एक बार उद्बोधन में काम करनेवाली एक महिला किसी कार्य से बाहर गई थी। लौटने पर उसने कहा कि रास्ता बहुत गन्दा था और उसके कारण वह अपवित्र हो गई है और उसे स्नान करना पड़ेगा। ठंड के दिन थे। माँ सारदा ने कहा कि पैर अच्छी तरह धोने से ही होगा। स्नान करने से उसे ठंड लग जायेगी। पर उससे उस महिला को संतोष नहीं हुआ। तब माँ सारदा ने कहा कि गंगा-जल अपने शरीर पर छिड़क ले। पर इस नुस्खे से भी जब उसे संतोष नहीं हुआ, तो माँ सारदा ने कहा, ''तब मुझे छू ले''। अपने दिव्य स्वरूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति ही अपनी पवित्रता के बारे में ऐसा कह सकते हैं। इसीलिए स्वामी अभेदानन्द जी ने कहा है –

पवित्रं चरितं यस्याः पवित्रं जीवनं तथा।
पवित्रतास्वरूपिण्यै तस्यै कुर्मो नमो नम।।

यही नहीं, माँ सारदा तो गंगा की तरह सबको पावन करने वाली थीं।

अष्टांग योग के आठ अंगों में से दूसरे अर्थात् नियम के पाँच नियमों में एक है शौच। बाह्य तथा आभ्यन्तरिक दोनों प्रकार की स्वच्छता शौच के अन्तर्गत है। आन्तरिक पवित्रता या चित्तशुद्धि अवश्य अधिक महत्त्वपूर्ण है, लेकिन बाह्यशुद्धि का विधान सभी धर्मों में किया गया है। मुसलमान लोग नमाज से पहले 'वजू' करते हैं – हाथ पैर

धोते हैं। वैष्णवों में तो उसे बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता है, जो कभी-कभी अति कर देता है। ऐसा होने पर भी, तथा चित्तशुद्धि अधिक महत्त्वपूर्ण होने पर भी बाह्यशुद्धि की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। दुर्भाग्य है कि हम भारतीय इस विषय में सचेत नहीं हैं। कई बीमारियाँ गंदगी से, गन्दे आहार और पानी से फैलती हैं। हमारे बड़े-बड़े नगर अत्यन्त गन्दे हैं। हम भले ही अपना शरीर, वस्त्र और घर साफ रखें, पर अपने नगर की सफाई के बारे में सचेत नहीं हैं। हमारे प्रधानमन्त्री निश्चय ही बधाई के पात्र हैं, जिन्होंने 'स्वच्छ भारत' का नारा देकर हमें इस विषय में सचेत किया है।

उपभोक्तावाद से भी गंदगी बढ़ती है। उपभोग की वस्तुओं के अधिक उत्पाद के साथ बहुत प्रकार की स्थूल, तरल एवं गैस युक्त हानिकर चीजें पैदा होती हैं, जिनसे वातावरण के साथ-ही-साथ उन्हें फेकने पर नदियाँ भी दूषित हो जाती हैं। तात्पर्य यह है कि यदि हमें सचमुच शौच का अभ्यास करना है, तो हमें अपनी आवश्यकताओं को कम रखना होगा। स्वयं की व्यक्तिगत शुद्धि के साथ-साथ हमारे वातावरण को स्वच्छ रखने का दायित्व भी हमारा ही है।

भगवान गीता में शुद्ध स्थान में आसन बिछाकर ध्यान करने का निर्देश देते हैं –

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरम्-आसनमात्मनः।

अपवित्र, गंदे स्थान में ध्यान नहीं किया जा सकता। अपवित्र लोगों से मिलना, अपवित्र गन्ध आदि के सूँघने से भी चित्त चंचल हो उठता है। इसीलिए बाह्य शुद्धि को महत्त्व दिया गया है।

आइए, अब हम आन्तरिक शौच या चित्तशुद्धि पर विचार करें, जो शौच का योगसूत्रों में मुख्य अर्थ है। मानसिक पवित्रता के विभिन्न अर्थ और स्तर हो सकते हैं। मोटे तौर पर अपवित्रता का अर्थ राग-द्वेष, काम-क्रोधादि से युक्त सभी सांसारिक विचार हैं, जिन्हें श्रीरामकृष्ण कामिनी-कांचन कहा करते थे। चित्तशुद्धि का अर्थ है नि:स्वार्थता और निर्वासना। सीमित अर्थों में चित्त का कामरहित होना। वासनाएँ, फलाकांक्षा और काम – ये चित्त को चंचल करते हैं। इसी प्रकार तमोगुण एवं रजोगुण को चित्त का मल माना गया है। तमोगुण से मन मूढ़, आलसी हो जाता है और रजोगुण उसे चंचल बना देता है। चित्तशुद्धि का अर्थ है उसे सात्त्विक बनाना।

आहार का भी चित्त के साथ सम्बन्ध है। अत: आहार-शुद्धि को चित्तशुद्धि का उपाय बताया गया है –

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः।

रामानुजाचार्य के अनुसार हम जो आहार करते हैं, वह शुद्ध अर्थात् निमित्त, आश्रय और जाति इन तीन दोषों से रहित होने पर शुद्ध होता है। मांस-मदिरादि तो जाति से अपवित्र हैं। गरिष्ठ भोजन जो आसानी से न पचे, उससे रोग होने की सम्भावना है। इसके अतिरिक्त आहार में मिलावट हो सकती है या उसमें धूल, बाल आदि वस्तुएँ उसे दूषित कर सकती हैं। ये आश्रय दोष के दृष्टान्त हैं। निमित्त-दोष का अर्थ है आहार जिस व्यक्ति से आया है, वह यदि अपवित्र हो, तो भोजन भी दूषित हो जाता है। श्रीरामकृष्ण किसी वकील या डॉक्टर का दिया खाना नहीं खा सकते थे, क्योंकि वे अनुचित उपाय से धनार्जन करते हैं। इस्लाम में भी हलाल-खाना को काफी महत्त्व दिया गया है। सूफी सन्तों के ऐसे दृष्टान्त पाये जाते हैं, जो बुरे व्यक्ति के छुए जाने के कारण अपनी बहन का बनाया भोजन भी नहीं कर सके थे।

तात्पर्य यह है कि नेक कमाई का भी चित्तशुद्धि में महत्त्व है। अत: आहार की शुद्धि-अशुद्धि पर जोर देने के बदले हमें स्वयं को शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा भी हो सकता है कि ऐसे उच्चकोटि के संत हों, जो हमारे द्वारा छुआ अन्न न खा सकें।

शंकराचार्य के मतानुसार हम सभी इन्द्रियों से जो कुछ ग्रहण करते हैं, वह आहार है। अत: जो कुछ हम देखें, सुनें, छुएँ, सूँघें, खायें, वह सभी शुद्ध पवित्र होना चाहिए। हम शुद्ध खाने के बारे में तो सावधान रहते हैं, पर क्या सुनते या पढ़ते हैं, इस विषय में बिल्कुल सावधान नहीं होते। इस प्रकार की लापरवाही से हम पवित्रता का दावा करते हुए भी बुरे संग, व्यर्थ की बकवास और असत् साहित्य के पढ़ने से बहुत ही गंदगी मन में इकट्ठा करते रहते हैं। अनैतिक जीवन और कुसंग और बाह्य शौच एक साथ नहीं चल सकते।

चित्तशुद्धि का सर्वमान्य उपाय है कर्मयोग, जिसमें फलाकांक्षा त्यागकर अनासक्त भाव से स्वधर्म किया जाता है। यहाँ चित्तशुद्धि का मुख्य अर्थ है नि:स्वार्थता एवं निरहंकारिता। भक्तियोग में हमारे प्रेम को शुद्ध किया जाता है, यानि सांसारिक विषयों के बदले भगवान से प्रेम करना।

लेकिन यह अचानक नहीं होता है। अत: वैधी भक्ति के माध्यम से चित्तशुद्ध किया जाता है। इसका यहाँ विस्तार सम्भव नहीं है, पर चित्तशुद्धि के कुछ सामान्य उपायों का उल्लेख किया जा सकता है।

१. सर्वप्रथम अपने दूषित बाह्य वातावरण एवं आन्तरिक वातावरण, अर्थात् मन में भरे कूड़े-कर्कट के प्रति बिना स्वयं को दोषी ठहराते हुए सजग रहें।

२. लापरवाही का जीवन त्यागने का संकल्प करें।

३. अगले कदम के रूप में इन्द्रियों आदि के माध्यम से अशुभ, अपवित्र संवेदनों को बन्द कर दें। टी.वी. देखना, समाचार पत्रों में घंटों बरबाद करना तथा ऐसे लोगों से मिलना बंद करें, जो अशुभ, बुरी आदत वाले, गपशप करते हैं।

४. सत्संग का सेवन करें।

५. पूर्वानुष्ठित बुरे जीवन, चिन्तन आदि का पुन: चिन्तन न करें। भूतकाल की लापरवाही से जीए गये जीवन की स्मृति से कोई लाभ नहीं होता। हाँ, केवल इतनी सावधानी बरतें कि वे गलतियाँ पुन: न करें। ईसा मसीह के पास लोग एक पतिता नारी को लाए। पुराने व्यवस्थान (Old Testament) में इसका दण्ड था – पत्थरों से उसे मारना। ईसा ने सारी बात सुनकर कहा कि जिसने कोई पाप न किया हो, वह पहला पत्थर मारे। उनका यह विधान सुनकर किसी में साहस नहीं हुआ कि उस पतिता को पत्थर मारे। जब सब चले गये, तो ईसा ने उसे कहा कि वे भी उसे क्षमा करते हैं। केवल आगे से अब और पाप न करे।

सन्त हबीब की कथा भी शिक्षाप्रद है। पहले वे एक क्रूर सूदखोर थे। बच्चे-बूढ़े सभी उनसे दूर रहते थे कि कहीं उनके पैरों की धूल न पड़ जाए और वे भी पापी हो जाएँ। लेकिन एक दिन उन्होंने तौबा किया, पापकर्म की माफी माँगी और नया जीवन जीने का संकल्प किया। उनकी यह तौबा इतनी आन्तरिकता से की गई थी कि उनको आते देख लोग उनसे दूर भागे कि कहीं लोगों की धूल उन पर न पड़ जाये और वे लोग पाप के भागी बनें। तात्पर्य यह है कि आन्तरिक शौच, शुद्धि, पवित्रता, कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो धीरे-धीरे साधी जाये । वह तो क्षण मात्र में पायी जा सकती है। वह तो मन की एक ऐसी स्थिति है, जो नित्य-शुद्ध-मुक्त-स्वरूप आत्मा को तत्काल प्रकट कर सकती है। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि हजार वर्षों के अन्धकार-पूर्ण कमरे में यदि दीपक लाया जाय, तो अन्धकार धीरे-धीरे नहीं जाता, वह दीपक जलते ही चला जाता है। इसी प्रकार व्यक्ति धीरे-धीरे नहीं, बल्कि तत्काल पवित्र हो जाता है। वे यह भी कहते थे कि कहो, 'मैंने भगवान का नाम लिया है, मुझमें अपवित्रता कैसे रह सकती है?'

मानसिक पवित्रता का एक अचूक चिह्न है कि व्यक्ति दूसरों के दोष नहीं देख सकता। पवित्रतास्वरूपरिणी माँ सारदा किसी के दोष दिखाये जाने पर भी नहीं देख सकती थीं। वृन्दावन में उन्होंने श्रीकृष्ण से व्याकुल प्रार्थना की थी कि वे उनकी दोष-दृष्टि नष्ट कर दें। उससे बड़ा उपदेश हमारे लिये और क्या हो सकता है – '' किसी के दोष मत देखो, दोष देखो अपने। कोई पराया नहीं है। सबको अपना बनाना सीखो।''

पतंजलि ने शौच में प्रतिष्ठा के सात शुभ परिणाम बताये हैं, जिनका उल्लेख करके इस निबन्ध का उपसंहार करेंगे।

शौच में प्रतिष्ठित होने पर स्वयं की देह से घृणा हो जाती है तथा दूसरों के शरीर से सम्पर्क, स्पर्शादि करने की इच्छा नहीं होती।

शौचात्स्वांगजुगुप्सा-परैरसंसर्गः । (योगसूत्र, २/४०)

सामान्यत: हमें यह भान नहीं होता कि हमारा स्थूल शरीर स्वभावत: अत्यन्त गन्दा है। वह मल मूत्रादि गन्दे पदार्थों से भरा रहता है। इसके नव द्वारों से कुछ-न-कुछ गंदी चीजें निकलती रहती हैं। यदि हम स्नान न करें, तो उससे दुर्गन्ध आने लगती है। मृत्यु होने पर तो अत्यन्त प्रिय प्रतीत होने वाली देह 'अशुचि' हो जाती है। वस्तुत: वह अशुचि ही होती है। अत: शौच में प्रतिष्ठित होने पर देह से घृणा हो जाती है और इसीलिये अन्य किसी शरीर को छूना, आलिंगन करना आदि नहीं हो पाता।

बहि:शौच का तीसरा परिणाम है, चित्तशुद्धि, जिसका विशद विवेचन किया जा चुका है। इससे आन्तरिक आनन्द होता है, जो सात्विक मन का एक लक्षण है। इसके साथ ही एक के बाद चित्त की एकाग्रता, इन्द्रिय-जय तथा आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है।

सत्त्वशुद्धि-सौमनस्य-एकाग्र्येन्द्रियजय-आत्म-दर्शनयोग्यत्वानि च।। (योगसूत्र, २/४१)

OOO

निवेदिता और भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन

स्वामी मुक्तिमयानन्द

रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, चेन्नई

स्वामी विवेकानन्द ने ७ जून, १८९६ को कुमारी नोबल को पत्र में लिखा था, ''जगत को आज जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है चरित्र। संसार को ऐसे लोग चाहिए जिनका जीवन स्वार्थ-गन्धहीन ज्वलन्त प्रेम का उदाहरण हो। वह प्रेम एक-एक शब्द को वज्र के समान प्रभावशाली बना देगा।'' उसी पत्र में उन्होंने उनमें 'वीर सिंहनी' जैसे गुणों को देखते हुए भारत जागरण में उनका आह्वान किया था, ''संसार के वीरों और सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' अपना बलिदान करना होगा।'' कुमारी नोबल ने इस आह्वान को सहर्ष स्वीकारते हुए अपने गुरु स्वामी विवेकानन्द और भारत की सेवा में स्वयं को समर्पित किया था। इसी समर्पण से प्रभावित हो स्वामीजी ने उन्हें 'निवेदिता' नाम दिया और उन्हें देश और धर्म की सेवा में समर्पित कर दिया।

स्वामी विवेकानन्द ने भारत भ्रमण के दौरान हजारों सालों से पराधीन अधिकांश भारतवासियों को घोर तामसिकता में देखा। एक ओर जहाँ लोगों ने उदार और सर्वसमन्वयकारी मुक्तिदायक धर्म को कुछ कुप्रथाओं और अन्धविश्वास की परम्पराओं में जकड़ कर रख दिया था, तो वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से हमारे युवा अपनी संस्कृति, धर्म और दर्शन में अश्रद्धा और उसका उपहास करते थे। इन सबके बाद भी भारत की शक्ति का केन्द्र-बिन्दु और जीवन-प्रवाह का मुख्य स्रोत धर्म जीवित था। भले ही यह राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, तकनीकी और वैज्ञानिक विकास में पिछड़ गया, किन्तु उसकी आध्यात्मिकता अक्षुण्ण थी। यही आध्यात्मिकता विश्व को भोगवाद की विनाशकारी संस्कृति से बचाने में सक्षम थी। सदियों की गुलामी और पाश्चात्य शिक्षा ने भारतीयों के आत्मविश्वास को तोड़ दिया था।

जिस धर्म ने त्याग और सेवा के द्वारा आत्ममुक्ति का सर्वोच्च सिद्धान्त विश्व को प्रदान किया था, वही अपनी रूढ़ियों, कुप्रथाओं, स्वार्थ के कारण आत्मविश्वासहीन हो गया था। स्वामीजी का स्पष्ट मानना था कि जब तक देशवासी आत्मविश्वासी और पराधीनता से मुक्त नहीं होंगे, तब तक वे अपने धर्म, अपनी सभ्यता और संस्कृति के उदार भावों से न अपना जीवन उन्नत कर सकेंगे, न ही विश्व का। यदि भारतीय संस्कृति, धर्म और जीवन-दर्शन का लोप हुआ, तो विनाशोन्मुख विश्व को त्याग, शान्ति, सदाचार और धर्म-समन्वय का संदेश देकर बचाने वाला कोई नहीं होगा।

अत: विदेश से प्रत्यावर्तन कर स्वामीजी ने लोगों में देशप्रेम, भारत की उदार संस्कृति, जीवन-दर्शन और धर्म के प्रति श्रद्धा और आत्मविश्वास जगाना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने देशवासियों को अगले पचास वर्षों तक मातृभूमि को ही एकमात्र आराध्य देवता मानने को कहा। भारत का पुनरुद्धार एवं पुनर्जागरण कर उसे अतीत के गौरवमय सिंहासन पर पुन: प्रतिष्ठित करने का आह्वान किया। स्वामीजी के शब्दों ने देश-विदेश में नई चेतना का संचार किया। कई युवकों ने देश और धर्म की सेवा में अपने को समर्पित किया। उनमें से एक थी सिस्टर निवेदिता, जिनके गुण और क्षमता से स्वामीजी विश्वस्त थे। एक पत्र में स्वामीजी ने निवेदिता को लिखा था, ''मैं तुम्हें स्पष्ट रूप से कहना चाहता हूँ कि मुझे विश्वास है कि भारत के कार्य में तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल रूप धारण करेगा। आवश्यकता है नारी की, पुरुष की नहीं, सच्ची सिंहनी की, जो भारतीयों के लिये विशेषकर नारियों के लिये काम करे। .. तुम्हारी शिक्षा, सद्भाव, पवित्रता, महान प्रेम, दृढ़ निश्चय और सर्वोपरि तुम्हारे केल्टिक (Celtic) रक्त ने तुम्हें वैसी ही नारी बनाया

है, जिसकी आवश्यकता है।''

निवेदिता का भारत प्रेम उनके गुरु की देन थी। निवेदिता ने स्वामीजी के स्वदेश प्रेम के सम्बन्ध में लिखा था, ''भारतवर्ष स्वामीजी के गम्भीरतम आवेग का केन्द्र था। भारत उनके हृदय के भीतर निरन्तर स्पंदित होता था, उनकी धमनियों में प्रतिध्वनित होता था। भारत था उनका दिवास्वप्न और भारत ही था उनकी रात्रि का दु:स्वप्न भी।'' अपने गुरु की शिक्षाओं से उन्होंने भारत की गहन आध्यात्मिक विरासत को पहचाना और उसके मुक्तिदायक धर्म के चरम आदर्श और अनुभूतियों की प्राप्ति हेतु जहाँ वे एक ओर आध्यात्मिक साधिका बनीं, वहीं दूसरी ओर अपने गुरु के स्वप्न-भारत के पुनर्जागरण के संग्राम की नायिका भी बनीं। स्वामीजी ने एक बार उनसे कहा था, ''मेरा जीवन का उद्देश्य रामकृष्ण या वेदान्त का प्रचार करना मात्र नहीं, बल्कि अपने देशवासियों में पौरुष जाग्रत करना है।'' जब निवेदिता ने स्वामीजी से कहा कि 'मैं इसमें आपकी सहायता करूँगी', तब स्वामीजी ने कहा था, 'मुझे पता है।' स्वामीजी से भारत-प्रेम की शिक्षा पाकर वह पूर्णत: भारतीय हो गयी थीं। भारत का मान, भारतीय गौरव, उसकी परम्परायें, सभी निवेदिता की अपनी हो गईं। 'भारतवर्ष' इस शब्द को वे मन्त्र की तरह जपती थीं।

स्वामीजी ने भारत के पुनरुद्धार में निवेदिता की रुचि देखी। उन्होंने निवेदिता को भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के गहनतम पहलुओं से परिचित कराकर उन्हें श्रद्धान्वित किया और देशसेवा में विशेष कर तत्कालीन भारतीय नारियों के सशक्तिकरण और शिक्षित करने में उन्हें प्रेरित किया था। निवेदिता का भारत प्रेम भी भारतीयों के सर्वांगीण विकास में सहायक था। स्वामीजी के देशप्रेम को जन-जन तक पहुँचाने में वे सक्रिय हो उठी थीं। वे भारत के धर्म, दर्शन, सभ्यता, शिक्षा, कला, विज्ञान, तकनीकी, उद्योग आदि सबका विकास चाहती थीं। किन्तु इन सब का विकास तभी सम्भव था, जब भारत की सत्ता भारतीयों के पास हो। अत: उन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम के संगठनों का सर्मथन किया। स्वामीजी के जीवन काल में ही उन्होंने मद्रास में भारतीय धर्म की उत्कृष्टता और देशवासियों की आत्मनिर्भरता पर व्याख्यान दिया था, जिससे अँग्रेजों की उन पर तीक्ष्ण दृष्टि हो गयी। वे देशवासियों में भारतीय होने का गौरव जाग्रत करना चाहती थीं। १९०१ में काँग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में आये गाँधीजी ने स्वयं आकर निवेदिता से भेंट की थी। इस दौरान उनकी भेंट श्रीगोपालकृष्ण गोखले, अब्दुल रहमान, आर. सी. दत्त, आनन्दमोहन दत्त, इत्यादि स्वतंत्रता संग्राम से जुड़े नेताओं से हुई।

स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मठ-मिशन के साधुओं को राजनीतिक गतिविधियों में सम्मिलित होने से स्पष्ट मना किया था। परन्तु निवेदिता का कार्यक्षेत्र विशाल था। अत: उन्होंने रामकृष्ण मठ-मिशन की प्राथमिक सदस्यता का त्याग कर दिया। यह मात्र औपचारिक था, उनका व्यक्तिगत सम्पर्क मठ के साधुओं से उनकी अन्तिम साँस तक निरवच्छिन बना रहा।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में निवेदिता का योगदान केवल कुछ विरोध प्रदर्शन, जन-आंदोलन या राजनीतिक स्वतन्त्रता तक सीमित नहीं था। वे भारतीयों को स्वामीजी की चरित्र-निर्माणकारी शिक्षा देना चाहती थीं और उनमें आत्मविश्वास तथा गौरवबोध जगाना चाहती थीं। भारतवासी अपनी गौरवमय संस्कृति से अनुप्राणित होकर स्वामी विवेकानन्द के स्वप्नों के अनुरूप गौरवशाली भारत का निर्माण करें, ऐसी उनकी उत्कट इच्छा थी।

अपने व्याख्यानों और लेखों में उन्होंने कहा कि प्रशासन, शिक्षा, श्रम, कानून, सभ्यता और रीति-रिवाज इत्यादि जो कुछ भी हो, वे भारतीय मूल्यों पर भारतीयों के द्वारा ही निर्धारित होने चाहिए।

उन्होंने कुमारी जोसेफाइन मैक्लाउड को पत्र में लिखा था, ''अब इसके आगे एक महत्त्वपूर्ण कार्य करना है, और वह है भारत को 'राष्ट्रीयता' शब्द देना। भारतीयों को इस शब्द की पूर्ण विस्तृत कल्पना देना, इसका सम्पूर्ण अर्थ उन्हें समझाना। यदि यह कार्य संभव हुआ तो बाकी के सभी कार्य अपने आप हो जायेंगे। भारत को इस महान भावना से, राष्ट्रवाद से पूर्ण रूप से जुड़ना होगा। यदि ऐसा हुआ तो भारत अपने इतिहास को, अपनी रूढ़ियों को एक नवीन दृष्टि से देखना सीख जायेगा। फिर उसे रामकृष्ण-विवेकानन्द की धर्मकल्पना समझ में आ जायेगी। सभी धर्मों के समन्वय की कल्पना को वह स्वीकार कर लेगा। भारतीय जीवन की मानसिकता में यह आमूलचूल परिवर्तन उन्हें यह सत्य समझा देगा कि राजनैतिक प्रक्रिया या आर्थिक संकट, ये समास्यायें गौण स्थान रखती हैं। हमारा एक स्वतन्त्र राष्ट्र हो, यह विश्वास ही सबसे महत्त्वपूर्ण है।''

स्वामीजी के महाप्रयाण के बाद निवेदिता ने उनके 'मनुष्य-निर्माण' के विचारों को 'राष्ट्रनिर्माण' से जोड़कर जनजागृति के लिये देश के विभिन्न प्रान्तों का दौरा

किया। जनता में राष्ट्रवाद व जातीय गौरव जगाने हेतु उनका प्रयास तीन धाराओं में प्रवाहित हुआ। प्रथमत; उन्होंने स्वयं कई स्थानों का दौरा कर जनमानस में मुक्ति और अपने मौलिक अधिकारों को प्राप्त कर अपने मूल्यों पर आधारित राष्ट्र गढ़ने की प्रेरणा जगाई। द्वितीय, वे अखबारों में अपने लेखों से देशवासियों को सम्बोधित करतीं, वहीं दूसरी ओर दमनकारी अंग्रेज नीतियों का, बिना भय या संकोच के कड़ा विरोध करतीं। तृतीय, वे स्वदेशी स्वतंत्रता संग्राम से जुड़े नेताओं और जनता का पूर्ण समर्थन करतीं। उन्होंने कु. मैक्लाऊड को एक पत्र में लिखा था, ''मेरा तो इतना ही काम है कि मैं पूरे राष्ट्र को जागृत कर दूँ। मेरा कार्य कुछ स्त्रियों तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए। मुझे पूर्ण राष्ट्र के लिए कुछ करना ही होगा।''

निवेदिता ने मुम्बई, नागपुर, मद्रास, पटना, वाराणसी, लखनऊ, इत्यादि स्थानों की यात्रा की। सर्वत्र उनके व्याख्यानों ने लोगों में राष्ट्रीय भावना और नवचेतना जागृत कर दी। अपनी बड़ौदा की यात्रा में वे श्रीअरविंद से मिलीं। वे युवाओं को राष्ट्र-चिन्तन और देश की सेवा करने के लिये प्रेरित करतीं। युवा तभी मातृभूमि की सेवा में तत्पर होंगे, जब वे अपने भीतर की शक्ति से परिचित हों। इसलिये निवेदिता ने पटना में युवकों को सम्बोधित करते हुये कहा, ''पौरुषत्व ही जीवन का रहस्य है।'' ...''देश की उन्नति ही तुम्हारे जीवन का मुख्य ध्येय होना चाहिए। इस ध्येय की प्राप्ति हेतु केवल अध्ययन, लेखन-कार्य या व्याख्यान कौशल ही महत्त्वपूर्ण नहीं है। तुम यह सोचो कि पूरा भारत हमारा देश है तथा अपना देश कार्य चाहता है। ज्ञान, सामर्थ्य, सुख और समृद्धि हेतु अनवरत संघर्ष करो। ये सब तुम्हारे जीवन ध्येय हों और जब भी देश में युद्ध की दुन्दुभि बजे, तुम कभी भी सोते हुए न पाये जाओ।''

निवेदिता ने 'एशिया में इस्लाम' विषय पर व्याख्यान देते हुये मुसलमानों को अपने रक्त की एक-एक बूँद भारत की स्वतन्त्रता के लिये राष्ट्रीय आन्दोलन में झोंक देने का आह्वान किया। निवेदिता हिन्दू-मुस्लिम को एकजुट होकर देश के लिए कार्य करते देखने को अधीर थीं। वे चाहती थी कि ये दोनों सम्प्रदाय के लोग आपसी भाईचारे, सहिष्णुता से देश की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील हों। क्योंकि ये एक ही माँ की दो संतान हैं। इनमें भेद कैसा ! भारतीय होने का गौरव देश के प्रत्येक वर्ग, जाति और सम्प्रदाय के लोगों के मन में सर्वोपरि हो। वे विदेशी सभ्यता, शिक्षा आदि के अन्धानुकरण के विरोध में थीं।

उन्होंने मद्रास में दिये व्याख्यान में कहा था, ''अब तक यह सिद्ध हो चुका है कि धर्म के बारे में भारत को देने के लिए पश्चिम के पास कुछ भी नहीं है, जबकि पश्चिम को देने लायक भारत के पास बहुत कुछ है। उसी प्रकार सामाजिक जीवन में भी यह बात सिद्ध हो चुकी है कि हममें परिवर्तन लाने की आवश्यक सामर्थ्य है। अत: किसी भी बाहरी व्यक्ति को हमारे घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करने या हमें उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं है। भारतीय संस्कृति तीन हजार साल पुरानी है। ऐसे देश को मार्गदर्शन देने के लिए अभी नये-नये निर्मित हुए पश्चिमी देशों की क्या जरूरत? इस देश में जो भी राष्ट्रीय रूढ़िवादिता है, प्राचीन परम्पराएँ हैं, उसके लिए अपने आप को हीन समझने की या क्षमा याचना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस देश के महापुरुषों की महानता अन्य देशों के महापुरुषों से अणुमात्र भी कम नहीं है। वे किसी से भी किसी विषय में पीछे नहीं हैं। उनका गौरव करो, उन पर अपना प्रेम न्योछावर करो।''

एक विदेशिनी और वह भी शासक वर्ग के समाज की नारी से अपने देश और सभ्यता की ऐसी ओजस्वी भाषा में प्रशंसा सुनकर लोगों में उत्साह जग उठता था। उनके अखबारों में प्रकाशित व्याख्यान देश में प्रेरणा की एक नई लहर पैदा कर देते। यद्यपि अंग्रेज सरकार निवेदिता के स्वतंत्रता संग्राम में सक्रियता पर कड़ी दृष्टि रखती थी, पर वे भारत के उत्थान और मुक्ति हेतु जो कुछ ठीक समझतीं, निर्भय होकर उसमें लग जातीं। निवेदिता आचार-व्यवहार, भाषा, वेश-भूषा, शिक्षा, संगीत, सबके द्वारा लोगों में राष्ट्रीय भावना को सुदृढ़ करने का प्रयास करतीं। उन्होंने बालिका विद्यालय में प्रतिदिन 'वंदेमातरम्' गीत आरम्भ किया। छोटी-से-छोटी स्वदेशी वस्तुओं में देव सदृश भाव रखने की वे प्रेरणा जगातीं। एक दिन निवेदिता ने अपनी बालिकाओं से प्रश्न किया कि भारतवर्ष की रानी कौन है? अंग्रेज शासित प्रजा होने के कारण जब छात्राओं ने क्वीन विक्टोरिया का नाम लिया, तो वे क्रोध और दुख से उत्तेजित होकर बोलीं, ''इंग्लैंड की अधीश्वरी क्वीन विक्टोरिया कभी भी तुम्हारी रानी नहीं हो सकती। तुम्हारी रानी हैं सीता और सर्वदा सीता ही भारतवर्ष की रानी रहेंगी।''

एक बार निवेदिता १९०३ ई. में बंगाल के मेदिनीपुर में आई थीं। लोगों ने 'Hip Hip Hurray' चिल्लाकर उनका स्वागत किया। उन्होंने लोगों को डाँटते हुए कहा, ''यह अंग्रेजों की विजयोल्लास ध्वनि है। भारतीयों को

उसे क्यों बोलना चाहिए?'' उन्होंने तीन बार हाथ उठाकर कहा, ''बोलो, वाहे गुरुजी का खालसा, वाहे गुरुजी की फतह।'' वहाँ उन्होंने स्वतन्त्रता से सम्बन्धित कई व्याख्यान दिये और एक अखाड़े का उद्‌घाटन कर वहाँ युवाओं को तलवार, मुद्‌गर, लाठी भाँजने जैसी शिक्षा लेने को अनुप्राणित किया। यहाँ तक कि एक-दो महिलाओं को उन्होंने बंदूक चलाना भी सिखाया।

निवेदिता जानती थीं कि राष्ट्रहित में पुरुषों के साथ स्त्रियों को भी कंधे-से-कंधा मिलाकर चलना होगा। २४ दिसम्बर, १९०२ को 'दि हिन्दू' में प्रकाशित अपने सम्बोधन में उन्होंने भारतीय नारियों का आह्वान करते हुए लिखा था, 'पुरुषों को स्फूर्ति देना, उनकी श्रद्धा को शक्ति देना तथा उनको नवीन दृष्टि देना ये सब काम स्त्रियों का है। घर की पवित्रता तथा महानता नारियों की तपस्या पर ही निर्भर रहती है।'' उन्होंने माताओं से श्रेष्ठ देशसेवक और शक्तिशाली कार्यकर्ता निर्माण करने का निवेदन किया।

निवेदिता के स्वतंत्रता संग्राम व देशप्रेम की अभिव्यक्ति उनकी रचनायें, पत्र, लेख आदि के द्वारा भी होती थी और इसके माध्यम से जनजागरण का कार्य भी सुचारु रूप से होता था। देश में वैज्ञानिक खोज व शिक्षा विस्तार हो, इसलिए निवेदिता प्रयासरत थीं और उन्होंने महान वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र बसु को पग-पग पर एक माँ की तरह सहायता और मार्गदर्शन किया था। डॉ. बसु को उनकी शोध के लिये पेरिस में बहुत प्रसिद्धि मिली। पर इसके विपरीत इंग्लैण्ड में उनके साथ किये गये असम्मानपूर्ण व्यवहार ने निवेदिता को अत्यन्त मर्माहत किया और तदुपरि ब्रिटिश शासन के दमनकारी क्रिया-कलापों ने निवेदिता की सारी भ्रान्त धारणायें दूर कर दी।

वे स्वतंत्रता संग्राम के कार्यक्रमों में रुचि लेने लगीं। वे भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के कार्यक्रमों का भी सूक्ष्मता से निरीक्षण करतीं। भारतीयों पर हो रहे अत्याचार और उनके अधिकार-हनन की घटनाओं ने उन्हें क्षुब्ध व क्रोधित कर दिया था। अँग्रेजी शासन द्वारा डॉ. बसु को इंग्लैंड में मानसिक रूप से तोड़ने का प्रयास, जमशेदजी टाटा द्वारा भारतीय विश्वविद्यालय और श्रीमती एनी बैसेण्ट को बनारस में हिन्दू महाविद्यालय प्रारम्भ करने के आवेदन के अस्वीकार इत्यादि से निवेदिता व्यथित हो उठी थीं।

बीसवीं शताब्दी का प्रथम दशक देश में राजनीतिक उथल-पुथल से भरा हुआ था। लॉर्ड कर्जन के नेतृत्व में ब्रिटिश अधिकारीगण राष्ट्रीय आंदोलनों का कड़ाई से दमन कर रहे थे। इससे देशभक्ति और आजादी की आग और भड़क उठी थी। निवेदिता स्वतंत्रता संग्राम के सभी प्रधान नेताओं के सम्पर्क में थीं। श्रीअरविंद से वे बड़ोदरा में मिली थीं। उन्होंने श्रीअरविंद से बंगाल लौटकर वहाँ स्वतन्त्रता के हेतु लड़ रहे, छोटे-छोटे दलों को एकत्र करने की प्रार्थना की। वे गोपालकृष्ण गोखले, बिपिनचन्द्र पाल, लोकमान्य तिलक, रमेशचन्द्र दत्त, गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर, आदि के सम्पर्क में थीं। अपनी ब्रिटिश नागरिकता का लाभ लेकर वे भारत के प्रति सहानुभूतिसम्पन्न अंग्रेज अधिकारियों से अँग्रेजों की नीतियों की, गतिविधियों की सूचनायें इन नेताओं तक पहुँचाती थीं। जब श्रीअरविंद ने बंगाल में बिखरे हुए क्रान्ति दलों को एकत्र कर 'अनुशीलन समिति' बनाई, तब निवेदिता इस समिति के सदस्यों से बहुधा विचार-विमर्श कर योजनायें बनातीं।

१९०० से १९०५ के बीच भारतीय प्रजा राष्ट्रीय काँग्रेस के माध्यम से अपनी आवाज उठा रही थी। निवेदिता काँग्रेस समिति के कार्यों में रुचि लेती थीं और एकाधिक बार काँग्रेस के सम्मेलनों में उन्होंने भाग भी लिया था। जब काँग्रेसी नेता युवाशक्ति को जगाने और युवाओं को संगठित करने लगे, तब जहाँ से भी इन संगठनों द्वारा निवेदिता को आमन्त्रण आता, तो वे वहाँ अवश्य जातीं और उनमें धर्म, गीता, विवेकानन्द के उपदेशों से जोश, स्फूर्ति और प्रेरणा भर देतीं । 'राष्ट्रीय जागृति' उनका विशेष शब्द हो गया था। निवेदिता के प्रभाव के विषय में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री और राष्ट्रवादी विनय सरकार लिखते हैं, ''१९०५ से १९१० के बंगाली आंदोलन के दौरान निवेदिता का नाम एक जादुई महत्त्व रखता था। उन दिनों कोलकाता में जिस-जिस आन्दोलनों में भाग लिया, लगभग वे सबमें सहयोगी रहीं। इसके अलावा निवेदिता ने असहयोग आन्दोलन और स्वदेशी आन्दोलन का पुरजोर सर्मथन किया था। वे सशस्त्र क्रान्ति का भी समर्थन करती थीं, क्योंकि वे अन्य आन्दोलनों की सीमाओं को समझती थीं। हर क्रान्तिकारी नेता को निवेदिता का पूर्ण समर्थन था।

१९०५ के काँग्रेस अधिवेशन में उन्होंने भाग लिया था। तब उनके निवास स्थान पर नेताओं की अनौपचारिक बैठकें होतीं। १९०६ में कलकत्ता अधिवेशन में श्रीअरविंद, बिपिनचन्द्र पाल और तिलक ने अलग क्रान्तिदल का गठन किया, किन्तु वे इन बिखरे हुये दलों से प्रसन्न नहीं थीं। उन्हें एकता के सामर्थ्य में ही पूर्ण विश्वास था।

१९०४ में लार्ड कर्जन ने विश्वविद्यालय सम्बन्धी

कानून पारित किया। पूरे देश के शिक्षित समाज ने इस कानून का विरोध किया। इस कानून के द्वारा अंग्रेज सरकार देश की सम्पूर्ण उच्च शिक्षा पद्धति को अपने अधीन करना चाहती थी। निवेदिता ने इस कानून का विरोध किया। वे स्वयं एक शिक्षाविद् थीं। इस कानून के दुष्प्रभावों से उन्होंने लोगों को व्याख्यान और अखबार में लेख लिखकर सावधान किया। उन्होंने कहा था, 'इस कानून से विद्यार्थियों को ज्ञान के अलावा बाकी सब मिलेगा। यह कानून देश में शिक्षा क्षेत्र को संकुचित करने का प्रयास है।'' उन्होंने लोगों से आग्रह किया वे विदेशियों से मदद की राह न देखकर स्वयं अपनी मदद करें और अपनी समस्यायें सुलझायें। सरकार से बिना डरे या झुके अपनी माँगों को सरकार से मनवाने के लिए उठ खड़े होने का उन्होंने आह्वान किया।

लार्ड कर्जन ने १९०५ में २० जुलाई को बंग विभाजन की घोषणा कर देश को गहरे सदमें में डाल दिया था। वे बंग-भंग विरोधियों के साथ रहकर उन्हें महत्त्वपूर्ण सुझाव देतीं। वे हर प्रकार से नेताओं की सहायता करतीं। पुलिस के द्वारा बंग-भंग विरोधी दलों पर बढ़ते अत्याचारों से देश में एक ओर श्रीअरविन्द, बिपिनचन्द्र पाल आदि के नेतृत्व में क्रान्तिकारी दल तैयार होने लगे, वहीं दूसरी ओर स्वदेशी आंदोलन ने जोर पकड़ा। निवेदिता ने दोनों आन्दोलनों को समर्थन दिया। वे स्वंय भी विदेशी वस्तुओं का त्याग कर स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करने लगीं। स्वदेशी आन्दोलन के समर्थन में उन्होंने लिखा था, ''स्वदेशी आन्दोलन से भारतीयों को अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति तथा साहसी प्रवृत्ति को दूसरों को दिखाने का अच्छा अवसर मिला है।'' उन्हें दृढ़ विश्वास था कि स्वदेशी आन्दोलन ब्रिटिश आर्थिक मेरुदण्ड को तोड़ने और उनके मर्मस्थल पर घाव देने के अचूक अस्त्रों में से एक है।

बोध गया के प्रवास के दौरान बोधि वृक्ष से कुछ दूर पत्थर पर खुदे वज्र-चिह्न को देखकर निवेदिता ने कहा था – यह चिह्न मानवजाति के कल्याण के लिए अपने जीवन के त्याग का सर्वोच्च आदर्श दिखाता है, अत: यह भारत का राष्ट्रीय चिह्न होना चाहिए। जब उन्होंने भारत के राष्ट्रध्वज की परिकल्पना की, तब उसमें यह वज्र अंकित करवाया और १९०६ में काँगेस अधिवेशन में हस्तशिल्प प्रदर्शनी में निवेदिता ने छात्राओं द्वारा सिन्दूरी रंग का काले धागे की कढ़ाई कर वज्रांकित ध्वज प्रदर्शित किया। डॉ. जगदीशचन्द्र बसु के समान कई विख्यात लोगों को यह ध्वज बहुत पसन्द आया और इसका प्रयोग करना भी उन्होंने शुरु कर दिया। अत: राष्ट्रीय ध्वज आँकनेवालों की श्रेणी में भी निवेदिता का एक अनूठा स्थान बन गया।

निवेदिता ने हर सम्भव मंच पर भारत और भारतीयों की स्वतन्त्रता के लिये आवाज उठाई थी। देश की स्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ रहे काँग्रेस में उग्रपथीं व नरमपन्थियों के बीच विभाजन और अनेक नेताओं की गिरफ्तारियों से निवेदिता को मानसिक आघात लगा था। लाला लाजपतराय के देश-निष्कासन की खबर सुनते ही निवेदिता ने अपनी दैनन्दिनी में लिखा था, ''सरकार को पागलपन का दौरा तो नहीं पड़ गया?'' इसी बीच डॉ. बोस के शोधों को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति मिलने लगी थी। डॉ. बोस के शोधपत्रों को प्रकाशित करवाने में निवेदिता का बड़ा योगदान था। उनके आग्रह पर वे यूरोप यात्रा पर गईं और लगभग २ वर्ष विदेश में रहीं। यहाँ पर भी वे रूस के क्रान्तिकारी क्रोपाटकिन से लन्दन में मिलीं। उनके लेखों व स्वतंत्रता संग्राम की क्रान्तिकारी योजनाओं से वे बहुत प्रभावित थीं। यूरोप में भी वे श्री गोखले, रमेशचन्द्र दत्त, बिपिनचन्द्र पाल, आनन्दकुमार आदि से भारत की समस्याओं के समाधान के विषय में चर्चा करती थीं। निवेदिता ने ब्रिटिश सरकार के House of Commons में भारत के प्रति सहानुभूति रखने वाले सांसद और वहाँ के कुछ अखबारों के माध्यम से भारत के अनुकूल जनमत तैयार किया था, जो परवर्ती काल में बहुत सहायक हुआ।

निवेदिता ने वापस भारत में आकर देखा कि यहाँ का वातावरण बदल गया है। हर क्षेत्र में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत हो रही थी। राष्ट्रहित में लोग अपना जीवन बलिदान करने के लिये तत्पर थे। कई क्रान्तिकारी स्वामीजी के प्रवचनों को पढ़कर उग्र आन्दोलन त्यागकर बेलूड़ मठ में साधु बन गये।

निवेदिता श्रीअरविन्द के सतत सम्पर्क में थीं। सरकार ने देश से उनके निष्कासन की योजना बनाई। तब वे फ्रेंच भारत में चले गये। निवेदिता ने उनके द्वारा प्रकाशित 'कर्मयोगी' पत्र का कुछ दिनों तक सम्पादन का भार सम्हाला था। साथ ही लेडी मिन्टो, ब्रिटिश नेता मेकडोनाल्ड जो बाद में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री बने थे, इत्यादि को भी निवेदिता ने भारतीय धर्म और दर्शन से अवगत कराकर प्रभावित किया था। इसके अलावा उन्होंने डॉ. बोस को उनके अध्ययन में सहायता की और रवीन्द्रनाथ टैगोर के साथ मित्रता की। वे

शेष भाग पृष्ठ ५३० पर

आधुनिक मानव शान्ति की खोज में (१४)

स्वामी निखिलेश्वरानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन, वड़ोदरा

जो सहे वह रहे

प्रतिदिन सबेरे समाचार पत्र पढ़ो तो दो-चार घटनाएँ यही दृष्टिगोचर होती हैं कि पिता के उलाहने पर पुत्र ने आत्महत्या कर ली, या परीक्षा में असफल होने से छत से कूद कर जान दे दी, व्यापार में घाटे के कारण होटल में व्यापारी ने आत्महत्या कर ली या गरीबी से त्रस्त होकर, पत्नी-बच्चों को रोता छोड़कर युवक ने ट्रेन के सामने कूद कर जान दे दी। इस प्रकार के समाचार मिलते ही रहते हैं। ऐसा क्यों होता है? क्या परेशानियाँ इतनी अधिक होती हैं कि मनुष्य को मरना पड़े?

सचमुच में देखा जाय, तो परिस्थितियाँ इतनी विकट होती नहीं हैं, जितना मान लिया जाता है। क्योंकि मुश्किलों को सहन कर सकने की मन:स्थिति नहीं होने से व्यक्ति को मुश्किलें बहुत बड़ी लगती हैं। आज शिक्षा बढ़ी है, पर समझदारी नहीं। उपाधियाँ बढ़ी हैं, पर जीवन-मूल्य नहीं बढ़े हैं। जीवन-मूल्यों का लोप होने से मनुष्य को जीवन के झंझावातों में टिके रहने की शिक्षा नहीं मिलती है, उसके कारण छोटी-छोटी समस्या का सामना भी मनुष्य नहीं कर पाता है। फलत: मानसिक तनाव, मानसिक रोग, आत्महत्या, परिवार में क्लेश, शारीरिक बीमारियों आदि का परिमाण उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है।

सहनशीलता मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है, ऐसा श्रीमाँ सारदा देवी कहती हैं। जीवन में जो सहन कर लेता है, उसके लिये कोई कठिनाई नहीं होती, पर जो सहन नहीं कर सकते, वे सब कुछ खो देते हैं। आज परिवार टूट रहे हैं, उसके पीछे कारण यही है कि सहनशीलता का अभाव हो गया है। सत्रहवीं सदी में ओसान नामक प्रधानमंत्री के परिवार में लगभग १०० व्यक्ति प्रेमपूर्वक मिलजुल कर रहते थे। इस परिवार की एकता के विषय में कहा जाता था कि ओसान के घर का कुत्ता भी दूसरे कुत्ते से लड़ता नहीं है। वहाँ के सम्राट को इस बात का पता चला, तो वह प्रधानमंत्री के घर गया। उसके परिवार के इस अद्‌भुत सामंजस्य का रहस्य क्या है, यह उसने पूछा। वयोवृद्ध ने अपने पौत्र को कागज-पेन्सिल लाने को कहा। काँपते हाथों से उसने परिवार के सामंजस्य के कारण लिख दिये। राजा ने कागज पढ़ा, तो आश्चर्यचकित हो गया। उस कागज में १०० बार एक ही शब्द लिखा था और वह शब्द था - सहनशीलता। परिवार की शान्ति का रहस्य है – सहनशीलता।

आज समाज में बहुत तेजी से परिवर्तन हो रहा है। आल्विन टॉफलर ने अपनी पुस्तक 'फ्युचर शॉक' में तेजी से हो रहे सामाजिक परिवर्तन के अशुभ प्रभाव के विषय में चिंता व्यक्त की है। इसके कारण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी का अन्तर बढ़ रहा है, परस्पर समझ घट रही है। स्वार्थवृत्ति बढ़ने से दूसरों के विषय में सोचने की वृत्ति कम हो रही है। पाश्चात्य संस्कारों का प्रभाव, जड़वादी सभ्यता का आक्रमण, टी.वी. चैनलों की मीडिया के प्रभाव के कारण जीवन की बदलती परिभाषा, आध्यात्मिक शिक्षण और संस्कारों का अभाव, इन सबके कारण आधुनिक युग में मनुष्य को उपहार स्वरूप मिला महान सद्‌गुण - सहनशीलता का लोप होता जा रहा है, इससे जरा-सी कठिन परिस्थिति का दबाव भी लोग सहन नहीं कर पाते।

वैज्ञानिक उपकरणों ने आज के मानव जीवन को अनेक सुविधाएँ दी हैं, जीवन को सरल बना दिया है। एक शतक पहले की बात करें, तो नारियों का जीवन कितना कठिन था। प्रात:काल उठकर चक्की में अनाज पीसने से लेकर घर के सभी काम स्वयं करने पड़ते थे, फिर भी नारियों की आत्महत्या का परिमाण इतना नहीं था। क्योंकि नारियाँ भले ही विद्यालय में नहीं पढ़ी होती थीं, किन्तु उनकी आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती थीं। इन सतियों के जीवन में कैसे-कैसे दुख थे, यह जानकर उनकी अद्‌भुत सहनशीलता से उन्हें बल मिलता था और वे प्रसन्नवदन सब सहन कर सकती थीं, फिर उनका स्वभाव ही सहनशीलता का बन जाता था, तो उन्हें कोई दुख-कष्ट नहीं देता था। आज भले ही जीवन में सुविधाएँ बढ़ गयी हैं, पर दुख कम नहीं हुए हैं। स्वतन्त्रता की भावना के कारण युवा पीढ़ी, 'मैं क्यों सहन करूँ? मैं क्यों बन्धन में रहूँ? मैं अपनी इच्छानुसार ही करूँगी', ऐसे विचारों के कारण कुछ भी सहन नहीं करती हैं और फिर जीवन-भर उसके परिणाम भोगती रहती हैं।

यदि व्यक्ति को सुख-शान्ति-प्रेम चाहिये, तो सहन करना सीखना पड़ेगा। सहनशील बनने के लिए केवल मन पर संयम रखने की आवश्यकता है। किसी ने एक कठोर बात कही, तो पलटकर दो-चार शब्द उससे भी कठोर बोल देना बहुत ही सरल है, पर वह कठोर शब्द सुनकर पचा लेना, उसकी कोई प्रतिक्रिया न करना ही संयम है। यह कठिन है, लेकिन एक बार यदि मन पर संयम हो जाय, तो फिर सहनशक्ति की जादुई चाबी हाथ में आ जाती है। इस चाबी से प्रत्येक परिस्थिति का हम सामना कर सकते हैं।

एक गरीब घर का युवक पाँच वर्ष का करार करके सेठ की दुकान में काम करने के लिये दुबई गया। वहाँ पूरे दिन काम करना होता था। भंयकर गर्मी, उसे अपने जैसे अन्य तीन युवकों के साथ एक ही कमरे में रहना पड़ता था। उसे वहाँ थोड़ा भी अच्छा नहीं लग रहा था । रात में घर की याद आती थी। वह सोचता था कि इससे तो अच्छा है, मैं अपने देश में मजदूरी करके पेट भर लूँगा, यहाँ नहीं रहूँगा, चला जाऊँगा। परन्तु बचपन में उसने अपने दादाजी से रामायण की कथा सुनी थी। उसके संस्कार उसके मन में दृढ़ हो गये थे। इसलिए जब भी घर जाने की इच्छा होती थी, तब मन में कहता था, श्रीराम चौदह वर्ष तक वनवास में रहे। वे तो राजा थे, तो भी उन्होंने कितने दुख देखे। उन्होंने तो कभी नहीं कहा कि "मैं यह सब सहन नहीं करूँगा, मैं तो राजा का बेटा हूँ।" इस प्रकार राम के चरित्र को याद करते हुए उसने पाँच वर्ष बिता दिये और बाद में उसने अपनी स्वतन्त्र दुकान बना ली। आज तो वह बहुत धनवान हो गया है। यदि उसने उस परिस्थिति में सहन नहीं किया होता, तो आज कहाँ भटक रहा होता। सहनशक्ति विकसित करने के लिए महापुरुषों के जीवन-चरित्र का अध्ययन बहुत आवश्यक है। उससे पता चलता है कि महापुरुषों ने कितने कष्ट सहन किये हैं। जीवन में आनेवाली सभी विपत्तियों का प्रसन्नता से सामना किया है, तब वे महान बने हैं। जो सहन करता है, वही कुछ प्राप्त कर सकता है, उसे ही महानता मिलती है। श्री रामकृष्ण देव का महत्त्वपूर्ण संदेश है कि "जो सहन करता है, वही रहता है। जो सहन नहीं करता, वह नहीं रहता है। अन्य अक्षर एक-एक है, परन्तु 'स' तीन हैं श, ष और स। अर्थात् सहन करो, सहन करो और सहन करो।"

बीती ताहि बिसार दे

एक घर में विवाह था। बेटी की बारात आनेवाली थी, उसकी सभी तैयारियाँ चल रही थीं। तभी वृद्धा माता ने पुत्र को बुलाकर कहा, "बेटा, मेरे साथ चलो, तुम्हारे काका-काकी को बुला लाएँ।" "माँ ! यह नहीं हो सकता है। आपको पता है कि बाबूजी की मृत्यु के बाद काका सज्जनता भूलकर अनाप-शनाप बोलकर अलग हो गये थे। हमें उनसे कुछ भी लेना-देना नहीं है। अभी घर में क्या काम कम है कि वहाँ जाकर समय नष्ट करें और उनके कठोर वचन सुनें? नहीं, माँ, अभी यह बात मत करो।"

"बेटा, जिसे जो कहना है कहने दो ! मैं बड़ी हूँ, हमारे घर यह पहला प्रसंग है। तुम्हारे बाबूजी होते तो उन्हें बुलाकर लाते ही न? यदि तुम नहीं आओगे, तो मुझे अकेले ही जाना पड़ेगा। बीती बातों को भूलकर, उन्हें मना लेने का यह शुभ अवसर है। यदि चूक जायेंगे, तो फिर कभी मन-मेल नहीं होगा। अपनी माँ की एक इच्छा पूरी कर दो, तुम मेरे साथ चलो।"

अनमने मन से पुत्र माता के साथ काका के घर यह सोचते हुए गया कि काका अनुचित बोलेंगे, तो माँ का हाथ पकड़कर तुरन्त लौट आऊँगा। परन्तु अपेक्षा से विपरीत ही हुआ, उसकी काकी ने कहा, 'वे तो कब से बेचैन हो रहे हैं, कह रहे हैं, हमारे घर विवाह है और कोई बुलाने भी नहीं आया, अब कैसे जाऊँ?" वह आश्चर्यचकित हो गया, जब उसके काका अपनी भाभी के पैरों में गिर कर रोने लगे। यह दृश्य देखकर उसकी आँखों में भी आँसू आ गये। उसने सोचा कि यदि माँ का परामर्श नहीं माना होता, तो सचमुच ऐसा सुमेल देखने को नहीं मिलता। उसके बाद वह अपने काका-काकी को अपने साथ ही कार में ले आया।

इस सत्य घटना से यह शिक्षा मिलती है कि भूतकाल में कही गई किसी की बात को पकड़कर रखने से मतभेद, वैमनस्य और संघर्ष बढ़ता है, किन्तु भूतकाल की बातों को भूलकर यदि अच्छा व्यवहार किया जाय, तो क्लेश या मतभेद अधिक समय तक नहीं टिकता है और जीवन को अशान्त नहीं करता है। कहावत है – 'बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेय' – अर्थात जो बीत गया, उसे भूलकर आगे के बारे में सोचो।

मनुष्य का मन भूतकाल को पकड़े रहता है, उसमें भी

शेष भाग पृष्ठ ५२४ पर

निवेदिता का कृषि-चिन्तन

गोपालचन्द्र मण्डल

१९०६ में पूर्व बांगलादेश में अकाल पड़ा, जिसने निवेदिता जैसी महाप्राणा नारी के ह्रदय को विदीर्ण कर दिया। उस समय जब वे गाँवों में भ्रमण कर रही थीं, तब उन्होंने समस्या का अनुसन्धान किया। उन्हें ज्ञात हुआ कि कहाँ समस्या है? उन्होंने लिखा – ''एक कृषिप्रधान देश में यह प्रश्न करना ठीक नहीं है कि क्या इस बार अच्छी फसल होगी? प्रश्न यह होना चाहिये कि क्या किसान इस दुर्दिन अकाल के वर्ष में और अधिक जीवित रह सकेंगे?''

जनता पर अतिरिक्त कर का भार है। फसल की राशि न मिलना, प्राकृतिक प्रकोप से किसानों की अवस्था खराब है। जिन पर जगत में सबके भोजन की व्यवस्था करने का दायित्व है, वे ही, दो मुट्ठी अन्न, एक स्वच्छ वस्त्र और आवास के लिए चिरकाल भिखारी हैं। देश की समृद्धि में महत्त्वपूर्ण जनता के विकास हेतु बहुत-से राष्ट्र-चिन्तकों ने प्रयास किया है।

समृद्ध देश की परिभाषा देते हुए निवेदिता लिखती हैं – ''यह मौलिक सत्य है कि जिस कृषिप्रधान देश में कृषक परिवार सम्पत्तिशाली, समृद्ध हैं और प्रतिकूल परिस्थिति में भी संघर्ष करने को तत्पर हैं, वही समृद्ध देश है।''

एक ओर कर चुकाने के लिये धन की व्यवस्था करने में किसान हल और बैल बेचने को विवश हैं। बड़े प्रयास से बीज के लिये संरक्षित धान को बेचने के लिये विवश हैं। दूसरी ओर देश-विदेश की कुछ कंपनियाँ और लाभ कमाने वाले कुछ सेठ-व्यापारी लोग धनी बन रहे हैं। इस सुख और धन में किसान और निर्धनों का कोई अधिकार नहीं है। इसलिये निवेदिता लिख रही हैं, 'किसानों की दशा चिन्तनीय है, एक प्रकार से उनकी यह अग्नि परीक्षा ही है।'

स्वाधीनता के बाद देश का विशेषकर कृषि क्षेत्र में बहुत विकास हुआ है। फसल बीमा से किसानों के जीवन का संकट टला है। पंचवर्षीय योजना ने भोजन-व्यवस्था का विश्वास दिया है। खाद्य-सुरक्षा-अधिनियम ने सबके निश्चित रूप से भोजन व्यवस्था कराने का आश्वासन प्रदान किया है।

किन्तु वास्तविक समस्या का समाधान नहीं हो रहा है। निवेदिता किसानों की दुरवस्था का वर्णन करते हुए लिखती हैं – ''कर चुकाने के लिये धन संग्रह करने में धान के बीज और हल-बैल देने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है।''

यद्यपि स्वतन्त्रता के बाद किसानों पर कर का वैसा प्रत्यक्ष भार नहीं पड़ा, फिर भी खाद, दवा, कृषि-उपकरणों के मूल्य में जैसी वृद्धि हुई है, उसके अनुपात में किसानों को फसल का मूल्य ठीक नहीं मिल रहा है। निवेदिता लिखती हैं – ''आपूर्ति बन्द न कर निश्चित ही चावल संग्रह करना होगा।''

आजकल सरकार द्वारा खाद्य सामग्री संग्रह हेतु तत्परता होने पर भी व्यवस्था के साथ भंडारण का सामंजस्य नहीं है। अन्य समस्यायें तो हैं ही। निवेदिता ने अपने निबन्ध में किसानों-खेतिहारों के विकास के लिए लिखा –

१. नि:शुल्क सर्वोत्तम धान के बीज की आपूर्ति करनी होगी।

२. कम ब्याज में धन की व्यवस्था करनी होगी।

३. हल-बैल खरीदने के लिये मूलधन की व्यवस्था करनी होगी।

उनका चतुर्थ परामर्श बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। समस्या की गहराई में गये बिना ऐसी बात नहीं लिखी जा सकती।

४. चावल के व्यापारी अपने व्यापार के स्वार्थ में, जमींदार अपनी जमींदारी के स्वार्थ में और समाज-सेवक देशप्रेम से प्रेरित होकर किसानों की सहायता करेंगे।

ग्राम और शहर में सम्बन्ध सुदृढ़ कर किसानों के विकास के लिये कुछ सुझाव –

१. चावल के उत्पादन में उत्साहित करने के लिए शहर में समिति बनाना।

२. शहर में एक ऐसा भवन हो, जो ज्ञान का स्रोत और एकता का सेतु हो।

जीविका के लिए विकल्प और किसानों के कला-ज्ञान में प्रगति हेतु निवेदिता के कुछ परामर्श ध्यान देने योग्य हैं –

१. किसी ग्रामीण भवन को पाश्चात्य शिल्पी, कलाकारों के गाँव के पुजारी के भवन के समान सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में निर्माण करना।

२. यहाँ से छोटे शिल्प स्थापित करने की शिक्षा और प्रेरणा दी जायेगी।

३. सामान्य दरी, मछली पकड़ने का जाल-निर्माण और जंगली बाँध-निर्माण आदि विभिन्न प्रकार के कुटीर-शिल्प

का प्रसार किया जायेगा।

४. लघु विद्यालय की स्थापना करना, ताँत और वस्त्र-शिल्प को पुनरुज्जीवित करना होगा। प्रसंगत: अँग्रेज-शासन में बंगाल का प्रसिद्ध ताँत-शिल्प प्राय: विनष्ट हो गया था।

किसान-केन्द्रित अर्थार्जनकारी फसल की खेती का विकास करना होगा

१. गाँवों में विभिन्न फलों के पेड़ लगाने होंगे।

२. खजूर के पेड़ों की देखभाल करनी होगी।

दुग्ध-उत्पादन वृद्धि की व्यवस्था करनी होगी

गायों की वंशवृद्धि में कमी हुई है। इसमें वृद्धि करने की आवश्यकता है। इसके लिये शिक्षित लोगों को प्रयास करना होगा।

पर्यावरण के सन्तुलन की रक्षा और मत्स्य-पालन वृद्धि का लक्ष्य रखना होगा

रेलगाड़ी के लिए निर्मित सेतु तीव्र नहर-नदियों के प्रवाह को बन्द कर देता है, जिससे मत्स्याधार बन्द हो रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में निवेदिता के निबन्ध से जो प्रस्ताव आया था, उसे पूर्ण करने में भारत और पश्चिम बंगाल सरकार प्रयत्नशील हैं, लेकिन निवेदिता का महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव हमलोग यहाँ देखते हैं। वे लिखती हैं – छात्रों के गाँव में जाकर स्थाई रूप से निवास करने से वहाँ विकास होगा। कृषि विभाग में कार्यरत अधिकारी वास्तव में शहर या शहर जैसे सुविधासम्पन्न किसी स्थान में बैठकर कृषि विकास की योजना बनाते हैं। इसीलिए योजना के साथ वास्तविक विकास में बहुत बड़ा अन्तर हो जाता है। स्वाभाविक विकास यहाँ रुक जाता है।

निवेदिता लिखती हैं – "विदेशी धन आदि के बदले जूट, रेशम से प्राप्त धन ठीक है।" देशी और विदेशी कम्पनियों ने किसानों को अनेक प्रकार से प्रलोभित कर कई बार बहुत बड़ी क्षति की है। मनुष्य को भोजन सामग्री देना, जिस देश का परम कर्तव्य है, उस देश में अन्य फसल की खेती कर पर्यावरण की क्षति करके परोक्ष रूप से किसान की क्षति करना ही है।

किन्तु निद्रित भारत जाग रहा है। विभिन्न प्रकार से किसानों के विकास की बहुत-सी योजनाएँ संचालित हो रही हैं, ठीक-ठाक कार्यान्वयन होने से भावी भारत उज्ज्वल होगा। भारत का भविष्य उज्ज्वल होगा। ○○○

पृष्ठ ५२२ का शेष भाग

किसी के किए हुए अपमान या कठोर वाणी को जीवन भर मन में संग्रह करके रखता है, मानो मन ऐसी दुखदायी बातों का संग्रहालय हो। यदि मन में ऐसे कटु वचनों का संग्रह हो, तो मन में सुख-शान्ति कैसे आएगी? जीवन तो बहता प्रवाह जैसा है, यह सदा बहता रहे, तो निर्मल और स्वच्छ रहता है। जैसे हम नदी के प्रवाह में खड़े रहें, तो उसका पानी प्रतिक्षण बदलता रहता है, ऐसा ही काल के प्रवाह में जीवन का है, वह प्रतिक्षण बदलता रहता है। एक क्षण मनुष्य की चेतना की जो स्थिति होती है, वह दूसरे क्षण में नहीं होती है। इसलिए कुछ समय पहले क्रोध और आवेग में मनुष्य जो कुछ बोल जाता है, बाद में समूल बदल जाता है। अत: उसके आवेश में बोले गये शब्दों को पकड़कर दुखी होते रहना निरी मूर्खता होगी। क्योंकि उन शब्दों को बोलनेवाला और अभी का व्यक्ति दोनों अलग-अलग हैं। इसलिए मनुष्य को जो कुछ हो गया उसको याद करके दुखी नहीं होना चाहिए। अरे ! भूतकाल में स्वयं कोई भूल की हो और उसका पश्चात्ताप भी कर लिया हो, तो फिर भूलों को बार-बार याद करके स्वयं को कोसना भी नहीं चाहिए। भूतकाल की घटनाओं से, भूलों से जो सीखना है, वह सीख कर मनुष्य को उज्ज्वल कार्यों द्वारा सुन्दर भविष्य का निर्माण करना है। भूतकाल को पकड़कर बैठे रहना नहीं है। इस सन्दर्भ में स्वामी विवकानन्द कहते हैं, "यदि मैं तुम्हें ऐसा उपदेश दूँ कि तुम पापी स्वभाव के हो, क्योंकि तुमने अमुक भूलें की हैं और तुम घर जाकर फटेहाल, राख लपेटे जीवन भर शोक मनाते रहे, रोते रहे, तो उससे तुम्हें कुछ लाभ नहीं होगा। उससे तो तुम और निर्बल हो जाओगे ... यदि कमरे में हजारों वर्षों से अंधेरा है और तुम शोक करके रोने लगो कि अरे ! यहाँ अंधेरा है, तो क्या इससे अँधेरा दूर हो जायेगा? तुम दियासलाई जलाओ, तो एक पल में प्रकाश हो जाएगा। इसलिए मनुष्य को भूतकाल के विषय में रुदन न कर ऐसे कार्य करने चाहिए, जिससे उज्ज्वल भविष्य का निर्माण हो। यह व्यक्ति, परिवार और समाज की प्रगति का मार्ग है, सुख और शान्ति का भी मार्ग है। ○○○

निवेदिता की समृतियाँ

सरलाबाला सरकार

अनुवाद : ब्र. चिदात्मचैतन्य

निवेदिता अब हमारे बीच में नहीं है। आज उनके बारे में कुछ लिखने के लिये अश्रुरूपी स्याही से नहीं लिखने पर यह लेख सम्पूर्ण नहीं होगा। वे हमारी थीं, उन्होंने भारत को तन-मन-वचन से आत्मसमर्पित कर दिया था, इस बात को हमलोग अभी समझ पा रहे हैं। धन्य हैं स्वामी विवेकानन्द, जिन्होंने इस दुर्लभ रत्न को लाकर भारतमाता के चरणों में समर्पित कर दिया था।

भारत के साथ भगिनी निवेदिता का जो अटूट सम्बन्ध है, वह बड़ा विलक्षण लगता है। कहाँ तो धन-जन-वैभवसम्पन्न सुदूर इंगलैण्ड के सुसभ्य समाज में प्रतिष्ठित जीवन और कहाँ विध्वंस भारत में, एक गरीब मुहल्ले में पूर्णत: अपरिचित जीवन व्यतीत करना; कहाँ तो सुख-सौभाग्य और सम्माननीय जीवन और कहाँ दुख-दारिद्र्य, निन्दा-अपमान को आभूषण के रूप में निरन्तर स्वीकार करना; कहाँ तो स्वजन-गृह-परिवार के सुखमय आश्रय में रहना और कहाँ सुदूर देश में नितान्त भिन्न आचार-विचार, भिन्न भाषा-भाषी विदेशी लोगों के साथ रहना; कहाँ तो उत्तुंग हिमालय और कहाँ सागर की ओर गतिशील नदी! सर्वप्रथम यह जिज्ञासा होती है कि कौन-सी शक्ति से प्रेरित होकर निवेदिता की जीवन-गति इस दिशा में संचालित हुई थी। निवेदिता 'मेरे गुरुदेव' नामक अपनी पुस्तक में लिखती हैं कि पूज्यपाद स्वामी विवेकानन्द जी के साथ साक्षात्कार एवं परिचय ही उनके जीवन को परिवर्तित करने का मुख्य कारण है।

१८९५ ई. में स्वामी विवेकानन्द इंगलैण्ड में वेदान्त प्रचार कर रहे थे। स्वामीजी का व्याख्यान सुनने के बाद से ही भारत के धर्म और दर्शन के प्रति निवेदिता का मन आकृष्ट हुआ। स्वामीजी वेदान्त पर व्याख्यान देते और उसके अन्त में श्रोताओं के प्रश्नों का उत्तर देते थे। उन व्याख्यानों और प्रश्नोत्तरों को सुनकर ही निवेदिता के मन में वर्तमान में प्रचलित यूरोपीय दर्शन एवं धर्म के साथ भारतीय दर्शन एवं धर्म के तुलनात्मक अध्ययन करने की प्रथम इच्छा उदित हुई। यद्यपि निवेदिता उस समय वेदान्त दर्शन का सम्पूर्ण भाव हृदयंगम नहीं कर सकीं, फिर भी उनको समझ में आया कि वर्तमान यूरोपीय सभ्यता के धर्म-प्रचार, परोपकार तथा समाज इत्यादि के मूल में अल्प मात्रा में आध्यात्मिकता विद्यमान रहने पर भी, वह भौतिक सुख-भोग लालसा में विशेष रूप से जकड़ी हुई है और उसका आध्यात्किता से कोई सम्बन्ध नहीं है। परोपकार करते समय मन में यदि बिन्दुमात्र भी अहंकार या स्वार्थ होता है, तो वह परोपकार फलहीन वृक्ष के समान निरर्थक हो जाता है। स्वामीजी की धर्म की व्याख्या और व्याख्यानों को सुनकर निवेदिता के मन का भाव क्रमश: परिवर्तित होने लगा तथा उसके साथ ही स्वामीजी के प्रति उनकी श्रद्धा प्रतिदिन बढ़ने लगी।

निवेदिता केवल शिक्षित ही नहीं, वे असाधारण बुद्धिमती भी थीं। व्यक्ति-चरित्र को परखने में उनके जैसी निपुणता बहुत कम देखने को मिलती है। स्वामीजी के साथ घनिष्ठ परिचय होने के बाद, निवेदिता को ज्ञात हुआ कि केवल विद्वान, दार्शनिक और अलौकिक प्रतिभाशाली होने के कारण ही स्वामी विवेकानन्द विशिष्ट नहीं हैं, बल्कि उनकी अपनी सत्यनिष्ठा, वीरता के प्रभाव से उनका चरित्र इतना अधिक उज्ज्वल हुआ है।

सम्पूर्ण आत्मत्याग यदि कुछ भी कामना रखे, तो ऐसे त्यागी-पुरुष के लिये अनन्त शून्य ही क्या आश्रयस्थल नहीं है? वह कभी भी सम्भव नहीं है। निवेदिता ने इसे समझकर स्वामीजी के सम्बन्ध में लिखा – "ऐसा नहीं था कि वे केवल सर्वत्यागी संन्यासी ही थे। उनका अपनी जन्मभूमि के प्रति प्रेम एवं श्रद्धा अतुलनीय थी। अपनी मातृभूमि के

यथार्थ कल्याण के लिए वे कोई भी कार्य करने के लिए तैयार थे, चाहे उससे उनकी मुक्ति हो या न हो।'' केवल भारत के लिए ही नहीं, संसार के भूखे और पीड़ितों के लिए भी स्वामीजी अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तैयार थे। उन्होंने सभी देशवासियों को ज्वलन्त शब्दों में आह्वान करते हुए कहा था - ''आज संसार को बीस ऐसे नर-नारियों की आवश्यकता है, जो सड़क पर खड़े होकर सबके सामने यह कहने का साहस कर सकें कि हमारे पास ईश्वर को छोड़कर और कुछ नहीं है। कौन करेगा? डर की क्या बात है? यदि यह सत्य है, तो अन्य किसी बात की क्या परवाह? यदि यह सत्य नहीं है, तो हमारे जीवन का ही क्या मूल्य है?'' (वि. सा., ८.१२५)

स्वामी विवेकानन्द के इस आह्वान को सुनकर निवेदिता का हृदय झंकृत हो गया। निवेदिता को यह अनुभव हुआ कि उसे कोई आध्यात्मिक मार्ग की ओर खींच रहा है। स्वामीजी कहते हैं – ''संसार को ऐसे लोग चाहिए, जिनका जीवन स्वार्थहीन ज्वलन्त प्रेम का उदाहरण है। वह प्रेम एक-एक शब्द को वज्र के समान प्रभावशाली बना देगा।...उठो ! उठो ! संसार दुख से जल रहा है। क्या तुम सो सकती हो?'' (वि. सा., ४.४०८)

स्वामीजी के ये उपदेश निवेदिता के जीवन में साकार हुये थे। वे अपना घर-परिवार, धन, मान-यश इत्यादि का त्याग करके एकमात्र भगवान का आश्रय लेकर, जगतपथ पर खड़ी थीं। वास्तव में उनका जीवन स्वार्थ-शून्य ज्वलन्त प्रेम का दृष्टान्त बन गया।

उनका 'निवेदिता', यह नाम कितना सार्थक हुआ था! उन्होंने वास्तव में अपना सम्पूर्ण जीवन ईश्वर के चरणकमलों में समर्पित कर दिया था। अहंकार के बन्धन से मुक्त होकर 'अपना' कहने के लिये उनके पास कुछ भी नहीं था। इसी नाम से उनका सम्पूर्ण परिचय मिल जाता है, उनके परिचय के लिये अन्य कुछ भी आवश्यक नहीं है।

सिस्टर निवेदिता और सिस्टर क्रिस्टिन दोनों एक साथ बोसपाड़ा लेन, कोलकता के एक छोटे-से मकान में रहती थीं और यहीं पर उनका बालिका विद्यालय आरम्भ हुआ था। साधारणत: जिसे विद्यालय कहा जाता है, यह वैसा विद्यालय नहीं था। स्वामी विवेकानन्द ने नारियों के लिए एक मठ की स्थापना का संकल्प लिया था, उस संकल्प को केन्द्रित कर ही निवेदिता ने इस विद्यालय की स्थापना की। इस विद्यालय के कार्य में निवेदिता ने अपना जीवन समर्पित किया था और इसी के लिये ही अपने जीवन का बलिदान कर दिया। बोसपाड़ा की एक छोटी-सी गली के एक स्कूल में निवेदिता जैसी असाधारण प्रतिभाशालिनी अनन्य निष्ठावान नारी, जिसके लिए कोई भी कार्य असम्भव नहीं था, उन्होंने जीवन-भर एक छोटे-से विद्यालय के लिये अपना जीवन दान कर दिया, यह सुनकर आश्चर्य होता है। इस प्रकार के समर्पण को बहुत-से लोग शक्ति का व्यर्थ दुरुपयोग समझ सकते हैं। इसलिये यदि हम वास्तव में निवेदिता और उनके कार्यों का मूल्यांकन करना चाहते हैं, तो हमें पहले यह जानना होगा कि भारतीय पुनर्जागरण के सम्बन्ध में उनका क्या विचार था?

निवेदिता ने भारत के पुनर्जागरण के लिए विभिन्न विचार व्यक्त किये तथा कई समाजसुधारकों ने भी भारतीय पुनर्जागरण हेतु विभिन्न उपाय बताए । किन्तु निवेदिता के विचार में भारत को आगे बढ़ने के लिए उसे अपनी संस्कृति पर विश्वास होना चाहिए। यह 'भारतीय संस्कृति' केवल एक की नहीं बल्कि भारत में विद्यमान हजारों सांस्कृतिक परम्पराओं तथा समूहों की देन है। इसके साथ ही यह वह संस्कृति है, जो इन सबको एकसाथ बाँध कर रखती है। यदि कोई भारत की सामाजिक या आर्थिक, राजनीतिक या धार्मिक अवस्थाओं को उन्नत करना चाहता है, तो उनलोगों को भारत की सांस्कृतिक उपलब्धियों के बारे में जनता को पुन: बताना होगा।

नवीन भारतीय समाज का जन्म प्राचीन भारतीय कला के पुनर्जागरण के जैसा होगा और इस नवीन समाज में - प्राचीन ज्ञान पर नये तरीके से विचार-विमर्श होगा और पुरातन धार्मिक ग्रन्थों पर एक नया तथा जीवनोपयोगी व्याख्या देखने को मिलेगी। संक्षेप में, यह नया पुनर्जागरण पहले वाले का एक आभ्यन्तरिक अंग होगा। ये नवीन विचार युवाओं के जीवन में नयी आशा लाएँगे तथा इसके साथ-ही-साथ यह प्राचीन ज्ञान का मूर्त रूप भी लेगा। प्राचीन मूल्यों के पुनर्जागरण में भारत के सभी क्षेत्रों में उनमें अन्तर्निहित विद्यमान अव्यक्त शक्ति के विकास को देखा जाएगा, जो

पूर्व में कभी नहीं देखा गया था।

हमारे सामूहिक जीवन में किसी भी नये विचार की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है – पहली अपनी जन्मभूमि के प्रति प्रेम। यह वह प्रेम है, जो स्वयं से, धन-सम्पत्ति से या अपने पुत्र के प्रेम से भी अधिक होता है। हमारी मातृभूमि ने बिना किसी पक्षपात के सभी समुदायों को अपनी ओर आकृष्ट किया है तथा सभी धार्मिक मतावलम्बियों को बिना किसी भेद-भाव के अपनी स्वर्गभूमि प्रदान की है। एक व्यक्ति का अपने सम्प्रदाय के प्रति जो प्रेम होता है, हमें उससे अधिक प्रेम अपनी सर्वसहिष्णु जन्मभूमि से करना होगा। जिस प्रकार सहोदर भाई अपने भाई को अपने से अधिक प्यार करता है, उसी प्रकार हमें भी प्रत्येक भारतीयों को अपने से भी अधिक प्यार करना होगा, चाहे वे भिन्न धर्मावलम्बी हों, भिन्न भाषा-भाषी हों, भिन्न मतावलम्बी हों, निर्धन हों या धनी हों।

शिक्षा केवल बाहरी ज्ञान और शक्ति का संग्रह ही नहीं है, बल्कि हमारे अन्दर की छुपी हुई अन्तर्निहित शक्ति को व्यक्त करना है।

भारतीय शिक्षा पद्धति का मूल आधार त्याग और प्रेम है। प्रेम का जन्म स्वार्थ-त्याग से होता है और प्रेम से ही त्याग का उदय और विस्तार होता है। त्याग का अर्थ सब कुछ छोड़ देना नहीं होता, न ही संसार-भय से पलायन करना होता है। इसका अर्थ होता है, परमात्म-धन से धनी होकर सनातन अमरता के पथ पर चलना। सांसारिक जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए त्याग ही एकमात्र साधन है, किन्तु उस त्याग को निजी स्वार्थ से पूर्णत: मुक्त होना चाहिए। यदि अनजाने में भी किसी व्यक्ति में त्याग करने से अहंकार या वासना का जन्म होता है, तो उसका अमूल्य त्याग मिट्टी में मिल जायेगा।

निवेदिता की दृष्टि से प्राचीन भारत में उपरोक्त प्रकार की शिक्षा जनसाधारण को दी जाती थी। यह ज्ञान वंश-परम्परा से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दिया जाता था और वर्तमान में भी सभी भारतीयों के अन्तस्तल में विद्यमान है। समाज का ऐसा मानना था कि पाश्चात्य शिक्षा से भारतीय महिलाओं में जो मौलिक गुण हैं, जो पाश्चात्य महिलाओं से भारतीय नारियों को अलग करते हैं, वे लुप्त हो जायेंगे। समाज के विरोध के कारण पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति की प्रबल बाढ़ ने हमारे तत्कालीन युवकों को आप्लावित कर लिया, किन्तु भारत में वह व्यापक रूप से विस्तृत नहीं हो सकी ।

नारी समाज की जननी होती है। जिस प्रकार एक दीपक से दूसरा दीपक प्रज्वलित होता है, उसी प्रकार माँ के जीवन दीप से सन्तानों का जीवन प्रज्वलित होता है। नारी का हृदय प्रेम, कोमलता इत्यादि अन्य गुणों से पूर्ण रहता है तथा ये गुण उसकी सन्तानों में भी पाये जाते हैं। निवेदिता ने अपनी पुस्तक में लिखा है, "सभी देशों की महिलाएँ नैतिक मूल्यों और सदाचारमय जीवन की रक्षा करने वाली देवी होती हैं। अपनी माताओं के त्यागपूर्ण-परोपकारी जीवन की प्रशंसा सुनकर नयी पीढ़ी प्रेरणा लेती है। यदि नारियाँ सम्पूर्ण तन-मन-प्राण से अपने पतियों के कल्याण के लिए प्रयास नहीं करतीं, तो यह कहना कठिन है कि कितने पुरुषों के लिए उच्च नैतिक जीवन यापन करना सम्भव हो पाता? विश्व के सभी देशों में यह पाया जाता है कि नारियाँ उच्च आदर्श के क्रियान्वयन के लिए अपना सर्वस्व समर्पण करने को तत्पर रहती हैं।

नारियाँ संसार की पोषिका और कर्तव्यपरायणा होती हैं। रक्त में प्रवाहित हो रहे कुल-परम्परागत जो महान सद्गुण हैं, वे सभी आज तक भारतीय नारियों के चरित्र में ही संरक्षित रहे हैं। स्वामी विवेकानन्द उन सभी सद्‌गुणों का शिक्षा और संस्कार द्वारा अभिनव रूप में क्रियान्वयन करना चाहते थे। स्वामीजी के इच्छानुसार ही निवेदिता ने इस विद्यालय के लिये अपना जीवन समर्पित किया था। यद्यपि उनका कार्यक्षेत्र बड़ा नहीं था, तथापि वे जानती थीं कि धधकती ज्वाला के प्रज्वलन हेतु काष्ठागार की आवश्यकता नहीं होती। वह कार्य एक छोटी-सी लकड़ी से भी हो सकता है। निवेदिता को यह दृढ़ विश्वास था कि इस विद्यालय से भारत में एकबार पुनः गार्गी और मैत्रेयी जैसी महान, विदुषी नारियाँ जन्म लेंगी।

यह विद्यालय छोटी-छोटी बालिकाओं से आरम्भ हुआ था। बाद में विवाहिता वधू, गृहिणी और विधवा भी यहाँ आकर पढ़ाई करती थीं। यहाँ सबके अनुकूल शिक्षा की व्यवस्था थी। इस विद्यालय में भाषा, गणित, दस्तकारी, सिलाई, कढ़ाई और चित्रकला इत्यादि सभी प्रकार की शिक्षाएँ दी जाती थीं। बड़ी कक्षा की छात्राएँ छोटी कक्षा की छात्राओं को पढ़ाती थीं। इनमें तीन-चार छात्राएँ बाल-विधवा थीं, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन विद्यालय के लिए समर्पित किया था। आजीवन पवित्रता का पालन करनेवाली सुधीरा देवी उच्च कक्षा की छात्राओं को पढ़ाती थीं और सम्पूर्ण विद्यालय का प्रबन्धन करती थीं। उन्होंने स्वेच्छा से इस दायित्व को स्वीकार किया था तथा वह विद्यालय से कोई

वेतन या उपहार नहीं लेती थीं। उनके समान उच्च-विचार और धर्मपरायणा नारी बहुत दुर्लभ होती हैं। जैसे एक माँ अपनी सन्तान के कल्याण के लिए प्राणपण से अक्लान्त परिश्रम करती है, उसी प्रकार सुधीरा देवी भी विद्यालय की छात्राओं के कल्याण के लिए निष्ठा से कार्य करती थीं। इसलिये छात्राएँ भी उनको प्राणों से भी अधिक प्रेम करती थीं तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करती थीं। विद्यालय के संचालन में सुधीरा देवी सिस्टर निवेदिता और सिस्टर क्रिस्टिन के दाहिने हाथ जैसी थीं।

निवेदिता और क्रिस्टिन के कमरे में हमेशा टेबल पंखा भी नहीं होता था। निवेदिता के पास सर्वदा एक हाथ-पंखा रहता था। उन्होंने उस छोटे से कमरे को स्वेच्छानुसार सुव्यवस्थित किया था । अधिकांश समय वे उसी कमरे में पढ़ाई-लिखाई में व्यस्त रहती थीं। वे अपने कार्य में इतनी मग्न रहती थीं कि उन्हें ठण्डी-गर्मी किसी का भी अनुभव नहीं होता था। हमने देखा है कि कार्य छोड़कर जब भी वे कमरे से बाहर आतीं, तो असह्य गर्मी से उनका मुख लाल हो जाता था। निवेदिता कभी-कभी प्रत्येक कक्षा में जाकर देख आती थीं कि छात्राएँ क्या कर रही हैं। या कभी वे अपने सिर पर हाथ रखकर बैठी हुई दिखती थीं। यदि कोई शिक्षिका पूछती कि क्या हुआ, तो उत्तर मिलता, 'भयानक सिरदर्द है'। उसके बाद तुरन्त निवेदिता कागज-कलम लेकर लेखन-कार्य में पुनः व्यस्त हो जातीं।

निवेदिता लेखन-कार्य स्कूल के लिए करती थीं। विद्यालय के अर्थाभाव को दूर करने के लिए उन्हें पुस्तक लिखनी पड़ती थी। यदि उनके अथक परिश्रम के बाद भी आर्थिक अभाव होता था, तो वे अपना निजी खर्च कम कर देतीं। उनको अपने प्रति छोटे-से-छोटा खर्च भी असहनीय था। अपनी ऐसी उपेक्षा के कारण उनका स्वास्थ्य दिन-पर-दिन खराब होता गया। अन्ततः उन्हें विवश होकर स्वास्थ्य सुधारने हेतु कुछ दिनों के लिए वायु-परिर्वतन हेतु किसी दूसरे स्थान पर जाना पड़ा।

निवेदिता विद्यालय हेतु धन-संग्रह के लिए द्वार-द्वार नहीं जाती थीं, तथापि शहर के लोग विद्यालय की आर्थिक स्थिति से अनभिज्ञ थे, ऐसी भी बात नहीं थी। इस विद्यालय की एक शाखा छोटी बच्चियों के लिए थी। आर्थिक अभाव के कारण निवेदिता उस विद्यालय को चला नहीं पा रही थीं। निवेदिता ने तीस रुपया मासिक सहायता के लिए समाचार पत्रों में निवेदन किया था। किन्तु इसके बावजूद भी कोई लाभ नहीं हुआ, तब लाचार होकर उन्हें वह स्कूल बन्द कर देना पड़ा। श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर 'सिस्टर निवेदिता' नामक लेख में लिखते हैं – "निवेदिता इस विद्यालय को न तो जनता के पैसे से और न ही अपनी आवश्यकता से अधिक पैसे से चलाती थीं, बल्कि सत्य तो यह है कि वे इसे अपने भोजन में कटौती करके चलाती थीं।"

निवेदिता अब जीवित नहीं हैं। किन्तु अत्यन्त अभाव और अर्ध भोजन कर उन्होंने भारतवर्ष में एक बालिका विद्यालय की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की थी। क्या अब भी हमारे देश की जनता निवेदिता के त्याग की ओर ध्यान नहीं देगी?

जैसाकि मैंने पहले ही बताया है कि सिस्टर क्रिस्टिन और सुधीरा देवी पर ही विद्यालय की वरिष्ठ छात्राओं को शिक्षा देने का दायित्व था, किन्तु निवेदिता को जब भी समय मिलता, वे इन छात्राओं को पढ़ाती थीं। वे मुख्यतः गणित और कला, इन दो विषयों को तथा कभी-कभी अँग्रेजी भी पढ़ाती थीं। उनकी पढ़ाने की पद्धति अच्छी और नवीन थी। वे गणित एवं चित्रकला जिस प्रकार पढ़ाती थीं, उससे कमजोर विद्यार्थी भी उसे सरलता से समझ जाते थे। उदाहरण के रूप में - छोटी-छोटी लड़कियाँ इमली या अन्य फलों के बीजों के साथ खेलते-खेलते गणना करना सीख जाती थीं। इन बच्चियों को खेल के माध्यम से ही 'सम-विषम' या 'जोड़-घटाव' बताया जाता था तथा बाद में वे अपने स्लेट पर जोड़-घटाव करना सीखती थीं। निवेदिता मौखिक अंकगणित के समय छात्राओं से केवल विषम अंक जैसे १,३,५,७ इत्यादि या केवल सम अंक जैसे २,४,६,८ इत्यादि गणना करने को कहती थीं। बाद में, वे क्रमशः विषम अंक के बीच में से भी एक अंक को छोड़कर, जैसे - १,५,९ इत्यादि या सम अंक के बीच में से एक अंक को छोड़कर जैसे - २,६,१० इत्यादि गणना करने को कहती थीं। अंकगणित की इस गणना प्रणाली से, छात्राओं की स्मरणशक्ति तो बढ़ती ही थी, साथ ही गणित, विज्ञान का विशेष ज्ञान भी होता था। विद्यालय में बड़ी लड़कियाँ छोटी लड़कियों को पढ़ाती थीं। निवेदिता लड़कियों को पढ़ाने की शैली सिखाती थीं, उन्हें निवेदिता के ही शब्दों में लिखती हूँ –

"यदि लड़कियाँ नहीं जानती हैं, तो भी उनसे कहो, 'ठीक है, यदि हम कोशिश करें, तो अवश्य सीख जायेंगे।' यदि लड़कियाँ गलत उत्तर देती हैं, तो उनसे कहो, 'अच्छा

है, किन्तु हम और अच्छा करने की कोशिश करेंगे।' यदि कुछ छात्राएँ सही उत्तर देती हैं, तो उनसे कहना, 'अच्छा, अच्छा' और अन्य छात्राओं से कहना, 'हम भी ऐसा कर सकती हैं, हम पुन: प्रयास करेंगे।' पढ़ाते समय निवेदिता कुछ शब्दों पर अधिक बल देती थीं, जैसे - 'निश्चय'। यदि कोई लड़की अच्छा करती, तो निवेदिता एक छोटी बच्ची के समान ताली बजाकर आनन्द प्रकट करते हुई कहतीं, 'अच्छा, अच्छा'। यदि किसी लड़की के लेखन या गणित में कोई गलती होती, तो वह गलती को रेखांकित करती हुए हमेशा कहतीं, 'कभी गलती मत करना। गलती देखते ही मिटा दो।'

भगिनी निवेदिता को भारतीय कला, विशेष रूप से मूर्तिकला और चित्रकला बहुत पसन्द थी। वे पूर्णत: विश्वास करती थीं कि भारतीय कला के मूल में अध्यात्म के बीज निहित हैं। जिन चित्रों में चित्रकार ने बाहरी सौन्दर्य पर अधिक ध्यान दिया है, उसकी अपेक्षा निवेदिता को आन्तरिक भावों को व्यक्त करने वाले चित्र अधिक पसन्द थे। विशेषकर वे अप्रशिक्षित चित्रकार की चित्रकारी में निपुणता की कमी की उपेक्षा कर उसमें निहित भावों से बहुत प्रसन्न होती थीं। पाश्चात्य शैली की कला के अनुकरण में निपुण चित्रकारों के चित्रों की तुलना में ग्रामीण स्त्रियों द्वारा अंकित चित्रकारी जैसे - रंगोली या जमीन पर किये गये चित्र को वे अधिक महत्त्व देती थीं। एक विद्यार्थी की पेंटिंग को निवेदिता ने अपने घर में टाँग कर रखा था। उस पेंटिंग में एक बड़े कमल को बहुत सारी पंखुड़ियों वाले छोटे-छोटे चमेली फूलों से घिरा हुआ दिखाया गया था। निवेदिता को वह पेंटिंग इतनी प्रिय थी कि जो कोई कला-गुणग्राही उनसे मिलने आता, वे उसे दिखाती थीं। एक दिन अति आनन्द से उन्होंने छात्राओं से कहा, 'कुमारस्वामी ने आज इस पेंटिंग की बहुत प्रशंसा की।' कुमारस्वामी ने उनकी छात्रा की कला की प्रशंसा की है, इस खुशी से उनका चेहरा चमक रहा था। सहस्त्र दल कमल में विशेष रूप से श्वेत कमल उनको बहुत पसन्द था। वे कहती थीं, 'भारतीय चित्रकार को छोड़कर किसी अन्य के द्वारा कमल फूल की पेंटिंग नहीं की जा सकती।' अक्सर, वे पेंटिंग में बड़े कमल के चारों ओर छोटी चमेली के फूलों को दिखाकर कहा करती थीं, 'ये छोटे-छोटे फूल कितने सुन्दर हैं! ये सभी अपना मुख बड़े कमल की ओर किये हुए हैं, जैसे कह रहे हों, "हम तुम्हारे पास आना चाहते हैं।"'

उद्बोधन कार्यालय, बागबाजार में श्रीमाँ सारदा देवी रहती थीं। भगिनी निवेदिता और सिस्टर क्रिस्टिन दिन में एक बार, चाहे वह अल्प समय के लिए भी क्यों न हो, उनका दर्शन करने अवश्य जाती थीं। जिस प्रकार एक छोटी बच्ची आनन्द से अपनी माँ के मुख को देखती है, उसी प्रकार निवेदिता भी बैठी-बैठी श्रीमाँ के मुख की ओर एकटक निहारती रहती थी। निवेदिता जैसी नारी विरले ही मिलती है। उनकी अन्तर्दृष्टिसम्पन्न आँखों को देखकर ऐसा लगता था कि वे जगत के समस्त रहस्यों का भेदने में समर्थ हैं, किन्तु जब वे श्रीमाँ के निकट बैठी रहतीं तो उन्हें देखकर ऐसा लगता कि वे पाँच वर्ष की सरल-सुबोध बालिका हैं, जो सम्पूर्ण रूप से एकमात्र अपनी माँ पर आश्रित रहती हैं।

श्रीमाँ आसन पर बैठकर जप करती थीं। जिस दिन उस आसन को बिछाने का अवसर निवेदिता को मिलता, उस दिन वे बहुत आनन्दित होती थीं। बिछाने के पूर्व वे उस आसन को बारम्बार चुम्बन करतीं; फिर बहुत ठीक से धूल साफ कर उसको बिछातीं। ऐसा लगता था कि श्रीमाँ की इस एक छोटी-सी सेवा करके ही उनका जीवन सार्थक हो गया है।

अन्याय के विरुद्ध लड़ते समय निवेदिता एक शेरनी जैसी खूँखार हो जाती थीं। उनकी अग्नि-स्फुर्लिंग आँखों के सामने बड़ा से बड़ा अहंकारी व्यक्ति भी अपना सिर नीचे कर लेता था। किन्तु इसके साथ-ही-साथ उनमें असाधारण विन्रमता भी थी। यह विनम्रता केवल दिखावा नहीं था, बल्कि उनका स्वाभाविक गुण था। इसीसे वे अत्यन्त निर्धन से भी सज्जनता से व्यवहार करती थीं।

उनके व्यक्तित्व में योद्धा का भाव था। वे योद्धा जैसे सर्तक रहती थीं, जैसा कि एक योद्धा युद्ध के लिए सदैव तैयार रहता है।

निवेदिता 'मनुष्य' पर बहुत श्रद्धा रखती थीं। 'मनुष्य जिससे वास्तविक मनुष्य बने' यही वे चाहती थीं। वे जिसमें मानवीय गुणों को देखती थीं, उसके सामने उनका सिर सम्मान से झुक जाता था। अलकनन्दा नदी के तट पर भीगे वस्त्रों में सूर्य भगवान को प्रणाम कर रही एक वृद्धा हिन्दू महिला को वे जिस रूप से श्रद्धा करती थीं; उसी प्रकार उस मुस्लिम स्त्री को भी करती थीं, जिसके बारे में स्वामीजी ने उल्लेख किया था। स्वामीजी ने उस महिला से पूछा, 'आप किस धर्म की हैं?' उसने पूरे आत्मविश्वास के साथ उत्तर दिया था, 'ख़ुदा की दुआ से मैं मुसलमान हूँ।'

एक ओर निवेदिता के व्यक्तित्व में अपार प्रेम, सर्वत्याग एवं बालिका जैसा सरल स्वभाव था; वहीं दूसरी ओर कर्तव्य

पालन में दृढ़ता तथा कठोरता; कर्ममय जीवन, असाधारण बुद्धि, मानव स्वभाव को पढ़ने की अद्भुत क्षमता भी थी। एक ही व्यक्ति में ये परस्पर-विरोधी भाव विद्यमान रह सकते हैं, यह सहज ही विश्वास नहीं होता। उनका त्याग-व्रत इतना अधिक था कि उनके लिए धन, मान-यश तो बहुत तुच्छ बात थी; वे अपने अस्तित्व को भी भूल गई थीं।

'निराशा' निवेदिता के शब्दकोश में नहीं था। 'सभी ईश्वर के कार्य हैं', इस भाव से वे कार्य करतीं और उसकी सफलता में निश्चित रहतीं।

बालिकाओं के लिए उन्होंने अँग्रेजी में एक गाना लिखा था। बालिकाएँ उसका बँगला अनुवाद मिलकर गाती थीं। उसका भावार्थ है –

आगे बढ़ो साथ-साथ अब न दुख सहना।
भूलो अतीत के दुख-कष्ट और सब वेदना।।
जग में आनन्द ही है, अब दुख कहो ना।
भूलो अतीत के दुख-कष्ट और सब वेदना।।
शरत् रात्रि के चन्दा की है विमल ज्योत्स्ना।
भूलो अतीत के दुख-कष्ट और सब वेदना।।
विश्वव्यापी स्तवन, जय-ध्वनि करो मन से साधना।
आगे बढ़ो साथ-साथ अब न दुख सहना।।
पथ-पतित को उठाकर उसे नहीं देंगे मरना।
आगे बढ़ो साथ-साथ अब न दुख सहना।।

निवेदिता अपने इस छोटे-से विद्यालय की सफलता के बारे में पूर्ण आश्वस्त थीं। वे कहती थीं, ''विद्यालय के ऊपर स्वामीजी का आशीर्वाद है, अत: यह विद्यालय भारत के पुनर्जागरण हेतु नींव का कार्य करेगा।''

एक निराश व्यक्ति से निवेदिता ने कहा था, ''हमें न तो आशा करनी है और न निराश होना है। हम अपने लक्ष्य पर दृढ़ रहेंगे। हम आगे बढ़कर अपने शरीर पर सेतु बनायेंगे तथा हमारे बाद के सैनिक उससे पार होकर दूसरे किनारे पहुँचेंगे।''

पार्थिव दृष्टि से हमने उन्हें खो दिया है तथा उनका चमकता हुआ आनन्दमय चेहरा अब हमारे सामने नहीं है, बोसपाड़ा लेन का विद्यालय निवेदिता के नहीं रहने से आज खाली-खाली लगता है। किन्तु तपस्विनी निवेदिता की आजीवन साधना की जीवन्त मूर्ति हमारी आँखों के सामने विद्यालय के रूप में अभी भी खड़ी है।

स्वामी विवेकानन्द का आह्वान था - 'उठो, जागो, सारा संसार दुखों से जल रहा है, क्या तुम सो सकते हो?' इस आह्वान से प्रेरित होकर निवेदिता केवल भगवान के सहारे कार्य करती रहीं। क्या वह आह्वान भारतीयों के लिए व्यर्थ हो जायेगा? क्या भारत के ऐसे बीस स्त्री-पुरुष नहीं है, जिनका एकमात्र आश्रय और सहारा भगवान हों तथा जो भारत के कल्याण के लिए अक्लान्त रूप में कार्य करते रहें? क्या ऐसा कोई नहीं है, जो भारत के कल्याण के लिए निवेदिता द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को आगे बढ़ाये तथा एकमात्र भगवान को आश्रय मानकर, अपना सभी कुछ त्याग करके निवेदिता द्वारा रोपित बीज को वृक्ष के रूप में बड़ा कर सके?

तपस्विनी निवेदिता संघर्ष, अभाव, भूख में अपना जीवन व्यतीत करके विद्यालय के रूप में जिस अग्निशिखा को प्रज्वलित करके गयी हैं, क्या वह सम्पूर्ण भारत को प्रकाशित नहीं करेगा? OOO

पृष्ठ ५२० का शेष भाग

श्रीमती सरला देवी आदि के सम्पर्क में भी रहती थीं। उन्होंने कई प्रख्यात लेखकों, दार्शनिकों, इतिहासकारों, शिक्षाविदों, कलाकारों, साहित्यकारों में भारत और राष्ट्रीयता के विचारों को दृढ़ रूप से अंकित किया। उनके मन में भारतीय धर्म और संस्कृति सामाजिक उत्थान के लिए सर्वोपरि सक्षम है, इस भाव को दृढ़ किया, ताकि वे पाश्चात्य के अन्धानुकरण में अपनी श्रेष्ठता और मौलिकता न खो बैठें।

निवेदिता के इस अगाध देशप्रेम को वन्दन करते हुए श्री गोपालकृष्ण गोखले ने कहा था, ''निवेदिता का व्यक्तित्व असाधारण था। चाहे वे किसी भी देश या किसी भी काल में जन्म लेतीं, उनकी यह अलौकिकता विश्व की दृष्टि से छिप नहीं सकती थी। उनका भारत के प्रति सच्चा और असीम प्रेम था। उनकी भारत प्रेम की धारा हर दिशा में, हर क्षेत्र में अविरत बह रही थी। उनका आत्मविश्वास, अपने कर्म में आस्था, भारत की सेवा में सर्वस्व अर्पण तथा आनन्दपूर्वक तपस्वी-जीवन को स्वीकारना, इन गुणों ने भारतीयों का हृदय जीत लिया था। भारतीयों ने उन्हें अगाध सम्मान दिया। उनके विचारों का जनमानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस देश के लिये अपना सर्वस्व अर्पण करनेवाले नर-नारियों में यदि सर्वोच्च स्थान निवेदिता को दिया जाये, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। OOO

समाचार और सूचनाएँ

'शिक्षा का अधिकार' अधिनियम (आर. टी. ई.) और अन्य शिक्षा सम्बन्धी विषयों पर अधिवेशन सम्पन्न हुआ

रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के द्वारा १२ जुलाई, २०१७ को 'शिक्षा का अधिकार अधिनियम' (आर. टी. ई.) और अन्य शिक्षा सम्बन्धी विषयों पर एक सेमीनार का आयोजन रामकृष्ण मिशन इंस्टिट्युट आफ कल्चर, गोलपार्क में किया गया । इसमें रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के सह-महासचिव, १४ केन्द्रों के सचिव और मुख्यत: पश्चिम बंगाल के स्कूल-केन्द्रों के २३ संन्यासियों ने भाग लिया । रामकृष्ण मठ-मिशन के वरिष्ठ न्यासी और सारदापीठ के सचिव स्वामी दिव्यानन्द जी ने इस संगोष्ठी की अध्यक्षता की ।

रामकृष्ण मिशन, गोहाटी के तत्त्वावधान में २० जून से २५ जून तक कामाख्या मन्दिर के पास अम्बुबाची मेला में नि:शुल्क चिकित्सा शिविर का आयोजन किया गया, जिसमें ४३५५ रोगियों की चिकित्सा की गई ।

रामकृष्ण मठ, पुरी ने रथयात्रा महोत्सव के समय २५ जून से ३ जुलाई, २०१७ तक नि:शुल्क चिकित्सा शिविर का आयोजन किया, जिसमें ६०७ रोगियों की चिकित्सा की गई । आश्रम द्वारा १२,००० यात्रियों को शरबत भी पिलाया गया ।

रामकृष्ण मिशन, पुरी द्वारा रथयात्रा महोत्सव के समय २०,००० यात्रियों को नींबू शरबत और १८००० पानी के पाउच वितरित किये गये । इस अवसर पर आयोजित चिकित्सा शिविर में १६५ यात्रियों की चिकित्सा की गई ।

रामकृष्ण मिशन, सारदापीठ में १ और २ जुलाई, २०१७ को प्लेटिनम जुबली के समापन समारोह के उपलक्ष्य में भक्तों, शिक्षकों और सार्वजनिक परिवहन के ड्राइवरों का अधिवेशन हुआ ।

विवेकानन्द विश्वविद्यालय, बेलूड़ मठ ने ४ जुलाई, २०१७ को नरेन्द्रपुर में १२वाँ स्थापना दिवस और दीक्षान्त महोत्सव मनाया, जिसमें १०१ विद्यार्थियों ने उपाधि प्राप्त की ।

दिव्यायन कृषि विज्ञान केन्द्र, मोराबादी, राँची, को भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद द्वारा 'पं. दीनयदयाल उपाध्याय राष्ट्रीय कृषि विज्ञान प्रोत्साहन पुरस्कार' २०१६-१७ से पुरस्कृत किया गया । यह पुरस्कार १६ जुलाई, २०१७ को भारतीय कृषि अनुसन्धान संस्थान, नई दिल्ली में भारत के कृषि मन्त्री श्री राधा मोहन सिंह द्वारा प्रदान किया गया, जिसमें प्रमाण पत्र और २५ लाख रुपये दिये गये ।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर के छात्रों ने १७ जुलाई, २०१७ को डोंगरगढ़ में आयोजित राज्यस्तरीय सुब्रत कप जीता ।

रामकृष्ण मठ, बेंगलुरु ने २२ जुलाई को छात्रों में आदर्श शिक्षा को सम्प्रेषित करने हेतु सेमीनार आयोजित किया, जिसमें १०० कॉलजों के प्राध्यापकों और प्राचार्यों ने भाग लिया ।

स्वच्छ-भारत अभियान

रामकृष्ण मिशन, कोयम्बटुर विद्यालय के छात्रों ने ५ से १८ जुलाई तक चिकित्सालय, सरकारी कार्यालय, सार्वजनिक स्थानों को स्वच्छ किया ।

श्रीरामकृष्ण आश्रम, मैसूर ने ४ जून और ३० जुलाई को आठ स्थानों पर स्वच्छता अभियान के अन्तर्गत सेवाएँ प्रदान कीं ।

राहत-कार्य

रामकृष्ण मिशन द्वारा असम, गुजरात के लींबड़ी, वड़ोदरा, अरुणाचल प्रदेश के अलांग, ईटानगर, पश्चिम बंगाल के बर्दवान, उड़िसा के रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन, पुरी, तमिलनाडु के चेन्नई स्टूडेन्ट होम द्वारा कई स्थानों पर विभिन्न राहत कार्य किये गये । ○○○

फोन : (0240) 237 6013, 237 7099, 645 2114
ई-मेल : rkmaurangabad@gmail.com
वेब : www.rkmaurangabad.org

रामकृष्ण मिशन आश्रम

(मुख्यालयः रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ, (कोलकाताके निकट) जि. हावड़ा, प. बंगाल - 711 202)
स्वामी विवेकानंद मार्ग (बीड बायपास) औरंगाबाद - 431 010.

भगवान श्रीरामकृष्ण देव का सार्वजनीन मन्दिर (निर्माणाधीन)

उदारतापूर्वक दान देने हेतु विनम्र निवेदन

प्रिय सहृद्जन,

सस्नेह शुभकामनाएँ,

रामकृष्ण मिशन आश्रम, औरंगाबाद स्वामी विवेकानन्द मार्ग (बीड बायपास) पर स्थित है। यह आश्रम रामकृष्ण मठ, बेलूड़ मठ, कोलकाता की शाखा है। इस आश्रम द्वारा चिकित्सा, शिक्षा, बाल-कल्याण केन्द्र के क्षेत्र में कई सेवा-कार्य संचालित किये जा रहे हैं। इसके साथ-ही-साथ भगवान श्रीरामकृष्ण देव एवं स्वामी विवेकानन्द के द्वारा प्रतिपादित शाश्वत धर्म के आध्यात्मिक संदेशों का प्रचार-प्रसार भी किया जा रहा है।

इस आश्रम के द्वारा श्रीरामकृष्ण देव के मन्दिर का निर्माण-कार्य प्रारम्भ किया गया है। यह कार्य दिसम्बर २००९ में प्रारम्भ किया गया था तथा सन् २०१७ के अन्त तक पूर्ण होने की सम्भावना है।

यह मन्दिर सामान्यतः सम्पूर्ण मराठवाड़ा क्षेत्र एवं विशेषरूप से औरंगाबाद शहर के लिए एक अनुपम एवं भव्य स्मारक होगा। इससे ऐतिहासिक शहर औरंगाबाद में एक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक आयाम का समावेश होगा। यह स्थानीय लोगों के लिए पूजा, प्रार्थना, ध्यान आदि के लिये अत्यधिक प्रेरणा एवं आकर्षण का केन्द्र होगा। जो पर्यटक सम्पूर्ण विश्व की विरासत अजन्ता-एलोरा आदि को देखने आते है, और जो तीर्थयात्री घृष्णेश्वर ज्योतिर्लिंग, शिरडी, पैठण आदि दर्शन करने औरंगाबाद शहर में आते हैं, आशा की जाती है कि भविष्य में वे अपने यात्रा-कार्यक्रम में इस श्रीरामकृष्ण देव के मंदिर को भी सम्मिलित करेंगे। यह मन्दिर बिना किसी जाति, सम्प्रदाय, राष्ट्रीयता के भेदभाव से सबके लिये खुला रहेगा।

इस सम्पूर्ण योजना में लगभग २० (बीस) करोड़ रुपये व्यय होंगे। अभी तक जनता के अनुदान से लगभग १५ करोड़ खर्च हो चुके हैं। मन्दिर-निर्माण को पूर्ण करने हेतु शेष ५ करोड़ रुपये की आवश्यकता है।

हम आपसे विनम्रतापूर्वक निवेदन करते हैं कि आप इस श्रेष्ठ कार्य हेतु उदारतापूर्वक दान दें।

श्रीरामकृष्ण जो विश्व के सभी धर्मों के अद्वितीय समन्वयक थे तथा जिनका जीवन सम्पूर्ण मानवता की शान्ति एवं कल्याण के लिए समर्पित था, उनकी स्मृति में इस अद्वितीय मन्दिर के निर्माण में आपका सहयोग दीर्घ काल तक स्मरण किया जायेगा।

आपका दान आयकर अधिनियम १९६१ की धारा ८० जी के अन्तर्गत आयकर मुक्त है। आपका दान रोख, चेक अथवा डिमांड ड्राफ्ट द्वारा ''रामकृष्ण मिशन आश्रम, औरंगाबाद'' के नाम बनवाएँ।

ऑनलाईन दान स्वीकार किए जाएँगे। आप अपना दान स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया, एम.आय.टी. शाखा, औरंगाबाद के अकाउन्ट नम्बर 30697728250 (Branch Code :- 10791, IFSC Code :- SBIN0010791) में सीधे अथवा ऑनलाइन जमा करा सकते हैं। कृपया ऑनलाइन दाता अपने दान की सूचना पूरे पते, मोबाइल नम्बर, ई-मेल और पॅन कार्ड के साथ हमें अवश्य दें।

आपका आर्थिक और अन्य सहयोग हमारे लिये बहुमूल्य है।

मन्दिर का क्षेत्रफलः लंम्बाईः १५६ फीट चौड़ाईः ०७६ फीट ऊँचाईः १०० फीट
मन्दिर संरचना क्षेत्रफलः १८००० वर्गफीट, **गर्भगृह का आकारमानः** २४ फीट × २४ फीट
मन्दिर का मुख्य सभागार (प्रार्थना व ध्यान के लिए): ७० फीट × ४० फीट; बैठने की क्षमताः ४५०
सभागृह (तलघर): ८० फीट × ५७ फीट; बैठने की क्षमताः ५००
सम्पूर्ण निर्माण-कार्य चुनार पत्थर और भीतरी संरचना अम्बाजी और मकराना मार्बल के द्वारा हुई है।
मन्दिर की छत का निर्माण सागवान की लगड़ी से हो रहा है।
अनुमानित लागत : रु. २० करोड़

भगवान की सेवा में आपका
स्वामी विष्णुपादानन्द
(स्वामी विष्णुपादानन्द)
सचिव

नविन मंदिरकी प्रतिकृति

रामकृष्ण मठ

(रामकृष्ण मिशन बेलूड़ मठ का एक शाखा केन्द्र)

निरंजनानन्द धाम, ग्राम-विष्णुपुर (घोषपाड़ा)

पो.- राजारहाट विष्णुपुर, पी.एस. राजारहाट, पश्चिम बंगाल ७००१३५

फोन : 03216272203, मो. 7699648789 ई-मेल : rkm.rajarhat@gmail.com वेबसाइट : www.rkmrajarhat.org

एक अपील

प्रिय भक्तो एवं शुभेच्छुओ !

रामकृष्ण मठ, राजारहाट बिष्णुपुर, की स्थापना १९५३ में स्वामी निरंजनानन्द महाराज के जन्मस्थान पर हुई थी। निरंजनानन्द जी महाराज श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग शिष्य थे। यह रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलूड़ मठ, पश्चिम बंगाल की शाखा है। वर्तमान मंदिर का उद्घाटन १९८६ में रामकृष्ण मठ-मिशन के तत्कालीन उपाध्यक्ष, तदनन्तर बारहवें संघाध्यक्ष परम श्रद्धेय स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने किया।

आश्रम द्वारा मंदिर में दैनिक पूजा और अन्य विशेष महोत्सवों के अतिरिक्त ग्रामीण विकास परियोजना के अन्तर्गत इस जिले के पिछड़े लोगों की सेवा की जाती है । यद्यपि यह स्थान साल्ट लेक, कोलकाता से मात्र लगभग १५ कि.मी. दूर है, किन्तु अभी भी यहाँ विकास नहीं हुआ है। यहाँ के अधिकांश लोग दैनिक मजदूर हैं। वर्तमान में हमारी चिकित्सा-सेवा (एलोपैथी और होम्योपैथी) के द्वारा प्रति माह लगभग १,००० रोगियों की सेवा की जा रही है। हमारी शैक्षणिक सेवाओं में लगभग १५० गरीब विद्यार्थियों (कक्षा १ से १०वीं) को नि:शुल्क कोचिंग दिया जाता है। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक शिक्षा के अन्तर्गत लड़कों को प्लम्बर तथा इलेक्ट्रीशीयन और लड़कियों को सिलाई का प्रशिक्षण दिया जाता है।

गरीबों में चिकित्सा की माँग को पूर्ण करने और बच्चों की शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए इस क्षेत्र में हम भक्तों, शुभ-चिन्तकों एवं कॉर्पोरेटरों के उदारतापूर्ण सहयोग से निम्नलिखित सेवा-कार्य आरम्भ करना चाहते हैं –

विवरण	दान-राशि (रु.)
१. चिकित्सालय के नये भवन का निर्माण	- १,५०,००,०००
२. गरीब छात्रों के लिए कम्प्यूटर प्रशिक्षण केन्द्र	- ५,००,०००
३. सचल चिकित्सा ईकाई	- २,००,०००
४. तालाब के तटबंध का विकास	- ५,००,०००
५. छात्रों के लिए पाठ्य-पुस्तके इत्यादि	- १,००,०००
६. युवकों के लिये नैतिक शिक्षा कार्यक्रम	- १,००,०००
७. ठाकुर-सेवा कोष	- ५,००,०००
८. साधु सेवा कोष	- ५,००,०००
९. सामुदायिक भवन और भक्तों के लिए अतिथि निवास	- २०,००,०००

हम आपसे उपरोक्त योजनाओं में उदारतापूर्वक वित्तीय या सामग्री सहायता के लिये विनम्रता से निवेदन करते हैं। आप कोई एक या दो मुख्य योजनाओं का चयन कर सहयोग कर सकते हैं। दान-राशि कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार की जायेगी।

कृपया चेक/ड्राफ्ट उपर दिये गये पते पर 'रामकृष्ण मठ, राजारहाट बिष्णुपुर' के नाम से भेजें। आप सीधे हमारे एकाउन्ट न. 30496330847, भारतीय स्टेट बैंक, आई.एफ.सी. कोड SBIN0006208 ब्राँच लौहाटी में भी स्थानांतरण कर सकते हैं।

श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा, स्वामी विवेकानन्द और स्वामी निरंजनानन्द जी का आशीर्वाद आप पर वर्षित हो।

सप्रेम नमस्कार और शुभकामनाओं सहित

प्रभु सेवा में आपका
स्वामी हरिमयानन्द
अध्यक्ष